विवेक-ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

स्वामी विवेकानन्द (बेलगाँव, १८९२)

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर

वर्ष १
अंक ४

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अक्टूबर—दिसम्बर, १९६३

सम्पादक-मंडल

स्वामी आत्मानन्द,

सन्तोषकुमार झा, रामेश्वरनन्द

संचालक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

रामेश्वरनन्द

विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर (मध्य प्रदेश)

फोन नम्बर. १०४६

अनुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
१. सवत्र भगवद्दृष्टि	१
२. महावत नारायण (श्री रामकृष्ण के चुटकुले)	२
३. भारत के राष्ट्रपति का उद्‌घाटन भाषण	५
४. स्वामी विवेकानन्द ले०—श्रीमत्स्वामी गम्भीरानन्दजी	१५
५. गीता का आकर्षण ले०—श्रीमत्स्वामी रंगनाथानन्दजी	४३
६. शंकर मत ले०—रायसाहब हीरालाल वर्मा, रिटायर्ड डिपुटी कमिश्नर	५०
७. दिव्य पुरुष ईसा ले०—श्री रामेश्वर नन्द	५८
८. धर्म का स्वरूप ले०—प्राध्यापक हरवंशलाल चौरसिया, एम० ए०	७०
९. कनेडा में सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन ले०—श्री श्यामनारायण शुक्ल, यूनिवर्सिटी आफ न्यू ब्रंसविक	७८
१०. संपत्ति देवो भव ले०—श्री सन्तोष कुमार झा	९०
११. मूर्ति-पूजा लेखिका—कुमारी झरना बोस, किसनगढ़	९३
१२. वशिष्ठ गुफा के योगी (एक साधक की डायरी से)	१०८
१३. ईश्वरचन्द्र विद्यासागर त्रेतानाथ तिवारी द्वारा संकलित	१२५

प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द, विवेकानन्द आश्रम

ग्रेट ईस्टर्न रोड, रायपुर (मध्यप्रदेश)

ग्राहकों को विशेष सूचना

१— 'विवेक-ज्योति' के इस चतुर्थ अङ्क के साथ आपका वार्षिक चन्दा समाप्त हो रहा है। अतः अगले वर्ष के लिए अपना चन्दा ४) (चार रुपये) मनीआर्डर द्वारा कृपया व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय, पो० विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म०प्र०) के पते पर भेजें।

२— जिन ग्राहकों का चन्दा हमें १० दिसम्बर, १९६३ तक नहीं प्राप्त होगा, उन्हें 'विवेक-ज्योति' के दूसरे वर्ष का प्रथम अंक वी० पी० वी० से भेजा जायगा। उन सबसे अनुरोध है कि वी० पी० कृपा करके छुड़ा लें, अन्यथा इस धार्मिक संस्था को व्यर्थ की हानि सहनी पड़ जायगी।

३—जिन सज्जनों को ग्राहक अब नहीं रहना है, वे कृपया एक कार्ड डालकर शीघ्र हमें सूचित कर दें, जिससे हम उन्हें व्यर्थ वी० पी० न भेजें।

४—प्रत्येक ग्राहक से करबद्ध अनुरोध है कि वे कम से कम एक-एक, दो-दो ग्राहक अवश्य बना देने का प्रयत्न करें, जिससे हम उनकी और भी अधिक अच्छी तरह सेवा कर सकें।

५—कुछ ग्राहकों से शिकायत आयी है कि पोस्ट आफिस वालों ने उनसे २५ न. पै का 'ड्यू' ले लिया है। हम सबकी सूचना के लिये लिखते हैं कि 'विवेक-ज्योति' रजिस्टर्ड पत्रिका है, जिसका उल्लेख प्रत्येक प्रति के अन्तिम पृष्ठ पर सबसे ऊपर किया गया है। "दि पोस्ट ऐंड टेलिग्राफ पाकेट गाइड, जून १९६२ संस्करण के पृष्ठ ६, कालम ६-अ के अनुसार इस प्रकार की रजिस्टर्ड पत्रिका के लिए १०० ग्राम वजन तक, ८ न. पै. के टिकट का विधान है। नये संशोधन के अनुसार भले ही अन्य विषयों में डाक की दरें बढ़ी हैं, पर रजिस्टर्ड पत्रिकाओं की डाक-दरें नहीं बढ़ी हैं। (देखिए, दि. १-५-६३ का पोस्टल नोटिस नं० ३, अनुच्छेद ३.)

—व्यवस्थापक

पाठकों को विशेष सूचना

'विवेक ज्योति' का चतुर्थ अंक भी आपके हाथ में है। इस अंक के साथ ही विवेक ज्योति का प्रथम वर्ष पूर्ण होता है। द्वितीय वर्ष का अंक प्रकाशित करने के पूर्व हम अपने समस्त पाठकों से अब तक प्रकाशित प्रतियों के विषय में उनका मत और सुझाव जानना चाहेंगे, जिससे पत्रिका को यथासंभव आप की रुचि के अनुकूल बनाया जा सके।

हमें सूचित करते हुए प्रसन्नता होती है कि नये वर्ष के प्रारंभ के साथ हम आपकी इस पत्रिका में दो नये स्तंभ शुरू कर रहे हैं—'साधना-कक्ष' और 'अथातो धर्म-जिज्ञासा'।

'साधना-कक्ष' के अन्तर्गत अनुभूति संपन्न साधकों के अनुभवात्मक लेख दिये जायेंगे, जो आध्यात्मिक जीवन के व्यावहारिक पक्ष पर प्रकाश डालेंगे और आध्यात्मिक साधना में हमारे लिये सहायक होंगे।

'अथातो धर्मजिज्ञासा' के अन्तर्गत धार्मिक और आध्यात्मिक प्रश्नों के उत्तर दिये जायेंगे। समय-समय पर पाठकों और जिज्ञासुओं से धर्म और अध्यात्म संबंधी कई प्रश्न आते रहते हैं। सभी पाठकों और प्रश्नकर्त्ताओं को व्यक्तिगत पत्र द्वारा उत्तर देना, कई कारणों से संभव नहीं हो पाता। इस स्तंभ द्वारा हमारे पाठकों की यह कठिनाई कुछ दूर तक हल हो पायेगी। अतएव भविष्य में जिज्ञासु पाठक अपने ऐसे प्रश्न संपादक, विवेक ज्योति के नाम पर भेज सकते हैं।

संपादक

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १] अक्टूबर — १९६३ — दिसम्बर [अंक ४

वार्षिक चन्दा ४) ❀ एक प्रति का १)

सर्वत्र भगवद्दृष्टि

ॐ ईशा वास्यमिदं सर्वं
यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा
मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

— "जगत् में जो कुछ स्थावर-जंगम संसार है, वह सब ईश्वर के द्वारा ढक लेना चाहिए (अर्थात् उसे भगवत्स्वरूप अनुभव करना चाहिए)। यह (जगत् को ईश्वर से ढक लेना) ही त्याग है। इसी त्याग-भाव से तू अपना पालन कर। लोभ न कर। धन भला किसका है ?"

— ईशावास्योपनिषद्, मन्त्र १।

महावत नारायण

किसी तपोवन में एक पहुँचे हुए महात्मा रहा करते थे। उनके कई शिष्य थे। एक दिन उन्होंने शिष्यों को शिक्षा दी कि सर्व भूतों में नारायण का वास है, सारे जीव नारायण के ही रूप हैं, अत: ऐसा जानकर सबको झुककर प्रणाम करना चाहिये। एक शिष्य हवन-काष्ठ लाने जंगल की ओर गया। सहसा उसने जोरों की एक चिल्लाहट सुनी, "रास्ते से हट जाओ! राजा का पागल हाथी छूट गया है!" रास्ते के सभी लोग तो भाग गये, पर महात्मा जी का यह शिष्य वहीं खड़ा रहा। वह सोचने लगा, "गुरुदेव ने आज ही पाठ पढ़ाया है कि सभी जीवों में नारायण का वास है, सब नारायण के ही रूप हैं। हाथी भी नारायण का एक रूप है। मैं भी नारायण का एक रूप हूँ। तब नारायण को नारायण से भला क्या भय हो सकता है? मैं क्यों भागूं?" वह चुप खड़ा रहा, हाथी को शिर नवाया और उसका कीर्तिगान करने लगा। महावत लगातार चिल्लाता रहा, "भाग जाओ! भाग जाओ!" पर वह शिष्य नहीं हटा। इतने में हाथी समीप आया, उसने उस शिष्य को सूंड़ से उठाकर जोरों से पटक दिया और चलता बना।

शिष्य बेहोश हो गया। चोट काफी लगी। लोगों से घटना सुन महात्माजी अपने शिष्यों को ले शीघ्र घटनास्थल

पर आये और बेहोश शिष्य को आश्रम ले गये। उन्होंने औषध दी। धीरे-धीरे शिष्य होश में आया। किसी ने उससे पूछा, "तुम जब देख रहे थे कि पागल हाथी आ रहा है, तो रास्ते से हटे क्यों नहीं?" वह बोला, "पर आज ही तो गुरुदेव ने सिखाया न 'कि नारायण ही सब भूतों में रमे हैं, पशु और मनुष्य सब नारायण के ही रूप हैं। अतः यह सोच कर कि हाथी-नारायण आ रहा है, मैं भागा नहीं।" इस पर गुरुदेव ने कहा, ठीक है वेटा, यह सत्य है कि हाथी-नारायण आ रहा था, पर महावत-नारायण ने तुम्हें हट जाने के लिए कहा था न? जब सभी नारायण के रूप हैं, तो तुमने महावत की बात क्यों न मानी? तुम्हें महावत-नारायण की बात पर कान देना था।"

नारायण सभी भूतों में रमे हैं यह ठीक है। पर इसलिए दुष्ट जनों की संगति नहीं करनी चाहिए; उनसे दूर ही रहना चाहिए। केवल सज्जनों से घनिष्ठता बढ़ानी चाहिए। नारायण तो सिंह में भी है, तो क्या इसीलिए सिंह को गले लगा लेना चाहिए! तुम यह कह सकते हो, "जब सिंह भी नारायण का एक रूप है, तो उससे दूर क्यों भगना चाहिए?" तो इसका उत्तर यह है— जो लोग तुम्हें भाग जाने के लिए कहते हैं, वे भी तो नारायण के रूप हैं, तो उनकी बात क्यों नहीं माननी चाहिए?

यह सत्य है कि पवित्र-अपवित्र, पुण्यात्मा-पापी सभी के हृदय में नारायण विराजते हैं, पर मनुष्य को चाहिए कि वह अपवित्र, पापी और दुष्टों की संगति से दूर रहे। ऐसे लोगों

से वह घनिष्ठता कदापि न करे। उनमें से कुछ लोगों के साथ भले वह बातें कर लें, पर दूसरों के साथ तो उतना भी न करे। ऐसे लोगों से दूर रहने में ही उसका कल्याण है।

जैसे, पानी तो आखिर पानी है। पर गन्दी नाली के पानी को हम बर्तन धोने के काम में नहीं लाते। बर्तन धोने के पानी से हम स्नान नहीं करते। स्नान के जल को हम पीने के काम में नहीं लाते और 'न पीने के पानी से देवपूजा ही करते हैं। इसी प्रकार, पारमार्थिक सत्यों के प्रति हमें व्यावहारिक दृष्टि अपमानी पड़ती है। स्थान और अवस्था के भेद से पारमार्थिक सत्यों का व्यावहारिक रूप बदलता रहता है।

जैसे जूते को पहनकर निःशंक काँटों पर से चला जा सकता है, उसी प्रकार 'तत्त्वज्ञान' का आवरण पहन कर मन इस काँटेदार संसार में विचरण कर सकता है।

— भगवान् श्रीरामकृष्ण

भगवान् सबके भीतर किस प्रकार विराजते हैं?— जैसे चिक की आड़ में बड़े घराने की स्त्रियाँ, वे सबको देखती हैं, पर उनको कोई नहीं देख पाता। भगवान् भी इसी प्रकार सबमें विद्यमान हैं।

— भगवान् श्रीरामकृष्ण

भारत के राष्ट्रपति का उद्घाटन-भाषण

[भारत के राष्ट्रपति डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् द्वारा देशप्रिय पार्क, कलकत्ता में रविवार २०।१।६३ को स्वामी विवेकानन्द जन्म-शताब्दी का एक सार्वजनिक सभा में सविधि प्रतिष्ठापन समारोह हुआ। इस सभामें लगभग दो लाख श्रोता उपस्थित थे। इस अवसर पर डा० राधाकृष्णन् द्वारा दिया हुआ व्याख्यान नीचे पूर्ण रूपेण उद्धृत है।]

आज सन्ध्या समय यहाँ उपस्थित होने एवं स्वामी विवेकानन्द जन्मशताब्दी समारोह का प्रतिष्ठापन करने में मुझे महान् आनन्द हो रहा है। कलकत्ता नगर ने शिक्षा, विज्ञान, साहित्य एवं आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में अनेक प्रतिभावान् महापुरुषों को जन्म दिया है और इन सब में शीर्ष-स्थानीय स्वामी विवेकानन्द हैं। वे हमारे देश की भावना के मूर्त रूप थे। वे भारत की आध्यात्मिक महत्वाकांक्षाओं एवं उनकी पूर्ति के प्रतीक थे। यह वही भावधारा है जो हमारे देश के भक्तजनों के भजनों में, हमारे द्रष्टाओं के दर्शन में एवं सर्वसाधारण की प्रार्थनाओं में अभिव्यक्त हुई है। उन्होंने भारत की इस चिरन्तन भावधारा को अर्थ एवं वाणी प्रदान की है।

उन्होंने जो महानता सम्पादित की, उसी को देखकर हममें से बहुतेरे संतुष्ट हो रहते हैं; किन्तु जिस विधि से उन्होंने

वह महत्ता प्राप्त की, जिन महान् कठिनाइयों से उन्हें जूझना पड़ा और उनपर विजय पायी, जो आध्यात्मिक संघर्ष उन्हें करना पड़ा और जिस विधि से उन्होंने अपनी दुर्दमनीय प्रकृति को दैवी प्रयोजन के योग्य बनाया, इसका अध्ययन अधिक रोचक है। पथिकों, साधकों एवं आध्यात्मिक जीवन में कुछ शिक्षा ग्रहण करने के इच्छुक कार्यकर्ताओं को भी इस अध्ययन में लाभदायक सामग्री प्राप्त होगी।

यहीं उनका जन्म हुआ। यहीं एक संस्था में उन्होंने शिक्षा प्राप्त की एवं जॉन स्टुअर्ट मिल्, हर्बर्ट स्पेन्सर, डेविड ह्यूम आदि के ग्रन्थों का अध्ययन किया जो उन दिनों लोकप्रिय थे। उनका मन क्षुब्ध हो उठा और वे इधर-उधर सत्य का मार्ग ढूँढ़ने लगे। यह दशा तब तक रही जबतक कि अन्त में उन्हें श्रीरामकृष्ण परमहंस के दर्शन न हो गये। उनके व्यक्तित्व की छाप, उनके विश्वास की निष्ठा एवं भगवान् के प्रति उनकी उत्कट अनुरागपूर्ण भक्ति से स्वामी विवेकानन्द के जीवन और कार्यधारा में अद्भुत परिवर्तन हुआ। उन दिनों वे दार्शनिकों एवं तार्किकों से शास्त्रार्थ करने में व्यस्त थे, ऐसे अनेक समाजों में सम्मिलित होते थे, जहाँ सत्य की घोषणा की दुहाई दी जाती थी। ऐसे समय वे सीधे श्रीरामकृष्ण के पास पहुँचे और पूछ बैठे, "क्या आपने ईश्वर को देखा है ?" तत्काल उत्तर मिला, 'हाँ, मैंने उन्हें देखा है—उसी भाँति, जिस भाँति मैं तुम्हें देख रहा हूँ, वरन् और भी अधिक स्पष्टता एवं निकटता से।" वे न विवाद कर रहे थे, न अनुमानादि लगा रहे थे, वे तो अपने स्वात्मानुभव को

व्यक्त कर रहे थे एवं दृढ़ता पूर्वक घोषणा कर रहे थे कि वे भगवान् का संस्पर्श अपने स्वतः के जीवन में, अपने प्राणों के स्पन्दन में अनुभव करते रहे हैं तथा उनका सारा जीवन ईश्वर के साक्षात्कार में बीता है। स्वामी विवेकानन्द के जीवन में इससे गम्भीर परिवर्तन हुआ। यह हमारे देश की परम्परा है कि धर्म विवाद अथवा तर्क एवं अनुमानाश्रित नहीं है। "न मेधया न बहुना श्रुतेन"—मेधाशक्ति अथवा शास्त्रों के अध्ययन द्वारा नहीं, वरन् प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा हमें उस परम पुरुष का साक्षात्कार करना पड़ता है। ऋग्वेद कहता है—'सदा पश्यन्ति सूरयः तद्विष्णोः परमं पदम्।' पश्यन्ति, वे परम पुरुष के परमोच्च धाम को सदा देखते रहते हैं। उपनिषद् कहता है—'वेदाह मेतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्ताम्।' इस जगत् के चाकचिक्य से, इसके अंधकार से, भ्रमित न होओ; इससे परे एक देवता है। वही परम पुरुष है। वह संवेदनीय है, अनुभवनीय है, साक्षात्कार की वस्तु है। भारत की यही सीख है। भारत कोरे मतवादों और सिद्धान्तों पर कभी निर्भर नहीं रहा। वे तो केवल उपकरण हैं, सर्वोच्च कोटि के सत्य का अनुभव करने के साधन हैं। यह सत्य है कि दिव्यपुरुष हममें से प्रत्येक में है, किन्तु उसका प्रकाश अवरुद्ध है। उसके प्राकट्य अथवा साक्षात्कार को बाधित करनेवाले अनेक मलीन आवरण हैं। यदि अपने अंतःस्थित दिव्य पुरुष को प्रकट करना चाहो तो पर्याप्त आध्यात्मिक ध्यान और आत्म-संयम आदि का पालन आवश्यक है। इस प्रकार उसका बहुत बड़ा

मूल्य चुकाना पड़ता है। धर्म ऐसी वस्तु नहीं है जिसे हम केवल ग्रंथों के पठन द्वारा हस्तगत कर सकें। उसे हस्तगत करने के लिए प्रचण्ड कठिनाइयों का सामना करते हुए अपने संपूर्ण स्वभाव का क्षय कर उसे परिवर्तित कर देना पड़ता है। स्वामीजी ने यह सब स्थितियाँ पार कीं और जगत् के रहस्य की अनुभूति में स्थित हो गये।

एक बार जब हम यह जान लेते हैं कि यह तत्त्व अनुभव की वस्तु है, तब किस मार्ग से उसे हम प्राप्त करते हैं इसका विशेष महत्त्व नहीं रह जाता। ये बातें गौण हो जाती हैं, माध्यम मात्र बन जाती हैं। सितम्बर १८९३ ई० में शिकागो धर्म-सम्मेलन में स्वामीजी ने ये महत्त्वपूर्ण उद्गार निकाले थे कि सर्व देवताओं से श्रेष्ठतर एक देवता है, सब धर्मों से श्रेष्ठ एक धर्म है और सर्वश्रेष्ठ एक तत्त्व है जो हमारे सकल धर्म-वाद, क्रिया योग, कर्मकांड, सिद्धान्तों और रूढ़िवाद से परे है, और वही वह धर्म है जिसके आधार पर समस्त जगत्—पूर्व और पश्चिम—का सम्मिलन हो सकता है।

उन्होंने वहाँ श्रोताओं के समक्ष गीता के इस प्रसिद्ध श्लोक का उद्धरण दिया—

ये यथा मां प्रपद्यंते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

जो जिस भाँति मेरी उपासना करता है मैं उसी भाँति उसे स्वीकार करता हूँ। सारे मनुष्य मेरी ही खोज में हैं अतः मैं उनके द्वारा अपनाये गये अलग-अलग मार्गों,

प्रार्थनाओं और विधियों में कोई भेद नहीं करता। मैं उनकी खोज को जानता हूँ, उनके सच्चे हृदय से किये गये प्रयत्नों को समझता हूँ कि वे किस प्रकार मुझ परम पुरुष तक पहुँचने के लिये भीषण संकटों का सामना कर रहे हैं। अतः वे मुझे किस मार्ग से प्राप्त करते हैं इसका मेरी दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं। स्वामीजी ने यही कहा। धर्मसभा में उन्होंने घोषणा की, भारत की उस अमर वाणी की, जो विश्वधर्म की वाणी है, जो वाणी कहती है कि सर्व देवों के ऊपर एक देव है। ऋग्वेद कहता है, 'देवानाम् आदिदेव एकः', और इसी वेद की वाणी है कि उस एक आदिदेव का मनुष्यों ने अनेक प्रकार से वर्णन किया है। अतएव हमारे लिये यह आवश्यक हो जाता है कि हम सहिष्णु हों, सबकी भावनाओं को समझें। जिस काल में हमारा देश तार्किक विवादों में उलझा पड़ा था, जब धर्माचार्य गण पारस्परिक कलह में डूबे हुए थे, जब वे पंथवादी हो गये थे, हठधर्मी हो गये थे और अपनी अलग-अलग तान अलाप रहे थे, ऐसे समय स्वामीजी ने दृढ़तापूर्वक उनसे कहा था, 'मूर्खो, तुम नहीं समझ रहे हो कि परम तत्त्व क्या है। तुम्हें इन सब दुराग्रहों और मिथ्या धारणाओं से मुक्त होना चाहिये एवं विश्वास लाना चाहिये कि वह एक विश्वदेव सर्व धर्मों की पूँजी है, वह सभी धर्मों में निवास करता है तथा प्रत्येक जीव उस सनातन परम पुरुष की प्राप्ति के मार्ग को ढूँढ़ रहा है।

बुद्ध के समान स्वामी विवेकानन्द के जीवन में भी एक

समय ऐसा आया था जब वे सोचने लगे कि अन्तर्मुखी होकर ध्यान के आनन्द में ही डूबे रहना चाहिये, संसार में पुनः वापस नहीं जाना चाहिये। किन्तु श्रीरामकृष्ण उनसे बोले, 'धिक्कार है तुझे! अपनी व्यक्तिगत मुक्ति के लिये तू इतना प्रयत्नशील क्यों है?' 'शिवमात्मनिपश्यन्ति'— परम पुरुष सब मनुष्यों में है, इन सभी को परमात्मा का स्वरूप जानना चाहिये। हमें मालूम होना चाहिये कि स्वामीजी को जो नरेन्द्रनाथ नाम प्राप्त हुआ था, वह केवल संयोग नहीं था। वे नरऋषि के अवतार थे—मानवों के मूर्त रूप थे। 'नारायणं नरसखं शरणं प्रपद्ये'— नरसखा नारायण है। स्वामीजी को समस्त मानवों के दुःखों का अनुभव होता था और वे चाहते थे कि सब मनुष्य जियें, एक शोभनीय जीवन यापन करें। हम में से अधिकांश केवल अस्तित्व धारण कर रहे हैं, जीवन-धारण नहीं। उनकी इच्छा थी कि हममें से प्रत्येक को बल प्राप्त हो, सौन्दर्य प्राप्त हो, शक्ति और प्रतिष्ठा प्राप्त हो तथा हम सही अर्थों में मानव बनें। अभी हम ऐसे नहीं हैं। उन्होंने हमारे देश के दुःख को पहचाना। उन्होंने देखा कि लक्ष-लक्ष जनसमूह दारिद्र्य और क्षुधा से पीड़ित हो काल के गाल में समाता जा रहा है। वे बोले, 'मैं तो दरिद्र-नारायण का पुजारी हूँ, उस नारायण का, जिसका निवास इस जगत् के सभी दरिद्र मानवों में है। जब तक ये लोग हैं, तब तक मैं केवल अपनी मुक्ति अथवा अपने आत्मसुख के लाभ द्वारा कैसे संतुष्ट रह सकता हूँ? इन सबके कल्याण की ओर दृष्टि रखना मेरा कर्तव्य है। परमात्म-प्राप्ति का

सर्वोत्तम मार्ग मानव की सेवा है।'

उन्होंने देश भक्ति के रूप में धर्म का प्रतिपादन किया—देश भक्ति संकुचित अर्थ में नहीं, मानव के धर्म के रूप में। उनका धर्म हमें समस्त मानवों को एक परिवार के रूप में अपना आत्मीय मानना सिखाता है। इस प्रकार के धर्म की उन्होंने हमें शिक्षा दी और इसीको उन्होंने अपनाया। उन्होंने कहा, "यह मानव-निर्माण करनेवाला धर्म है।" यह मानव-वादी धर्म है। इसमें ध्यान-धारणा और समाज-सेवा एक दूसरे से विलग नहीं हैं, प्रत्युत दोनों एक ही प्रकार की क्रिया की अभिव्यक्ति हैं। यदि हमने अपने अंतःकरण में परम पुरुष के पूत संस्पर्श को प्राप्त कर उसकी सत्ता का अनुभव कर लिया है, तो हमारा कर्तव्य हो जाता है कि और अन्य मानवगण जो इस जगत् में कष्ट उठा रहे हैं उनकी सहायता के लिये हम जा पहुँचें। इसी कारण उन्होंने कहा था, 'मुझे कष्ट होता है। मुझे आंतरिक दुःख होता है जब मैं अपने देश-वासियों के दुःख को देखता हूँ, जब मैं देखता हूँ कि लाखों गरीब भोजन आदि के अभाव में मक्खियों की भाँति मर रहे हैं।' भगवान् को भी दया आती है, 'भगवानानुक्रोशमनु-भवति'— उन्हें करुणा आती है, एक प्रकार की सहानुभूति होती है, जब वे देखते हैं कि कैसे ये मानव अपने भीतर विद्यमान् दैवी स्फुलिंग को परिवर्धित नहीं कर पाते, उसे ज्योति-शिखा के रूप में प्रज्वलित नहीं कर पाते। इसी के लिये तो हम वास्तव में आये हैं। हम यहाँ आये हैं अपना पूर्णत्व प्राप्त करने के लिये। और यह पूर्णत्व धन-संचय, नाम

एवं यश-उपार्जन अथवा संपत्ति-प्राप्ति नहीं है। इसका अर्थ है अपने को पूर्ण बनाना, अपने अंतर में जो दिव्य ज्योति है उसे जागृत कर अपने को उसकी प्रतिमूर्ति अथवा प्रतीक बना लेना। वास्तव में, वह इसी प्रकार का मानवतावादी, मानव-निर्माणकारी धर्म था, जिससे हम लोगों ने अपने बाल्यकाल में सत्प्रेरणा और स्फूर्ति प्राप्त की थी। जब हमलोग सम्भवतः मैट्रिक की किसी कक्षा में पढ़ते थे, तब स्वामी विवेकानन्द के पत्र हस्तलिखित रूप में हम सबको पढ़ने के लिये दिये जाते थे। हमारे हृदयों में इन पत्रों से एक अपूर्व स्पंदन उत्पन्न होता था, इनसे हमें एक सम्मोहन का संस्पर्श-सा प्राप्त होता था और अपनी उस संस्कृति के प्रति अडिग विश्वास हो जाता था, जिसकी उन दिनों चहुँओर खिल्ली उड़ाई जाती थी। ऐसा वह आमूल रूपांतर था जो उनके लेखों ने इस शताब्दी के प्रारम्भ में नवयुवकों में ला उपस्थित किया था। कम से कम मद्रास में ऐसा हुआ और मुझे विश्वास है कि हमारे देश के अन्य भागों में भी यही हुआ होगा।

आज हम न केवल अपने देश के, वरन् समस्त जगत् के इतिहास में एक संकटकाल में आ उपस्थित हुए हैं। अनेकों का मत है कि हम अभी एक अगाध गर्त की कगार पर खड़े हैं। पदार्थों की मूल्यांकन विधि भ्रष्ट हो गई है, आदर्शों के निर्णयात्मक प्रतिमान का स्तर पतित हो गया है, पलायनवाद का विस्तार हो रहा है एवं जनमानस मानों एक वातोन्माद से ग्रस्त हो रहा है। जनमानस इसपर विचार करता है और

नैराश्य, पराजय तथा वृथात्व की अनुभूति से अवसन्न होता जा रहा है। पर मानव-आत्मा की शक्ति पर इस प्रकार का अविश्वास मनुष्य के आत्मसम्मान के प्रति विश्वासघात है, वह मानव-प्रकृति का अपमान है। जगत् में जितने महान् परिवर्तन हुए हैं, वे मानव-प्रकृति के द्वारा हुए हैं। स्वामी विवेकानन्द ने यदि हमारे सन्मुख कोई पुकार उठाई है तो वह यही है कि अपनी निज की आध्यात्मिक शक्तियों पर विश्वास रखो। जान लो कि मानव की आध्यात्मिक शक्तियों का भांडार अक्षय है। उसकी आत्मा सर्वोपरि है। मानव अद्वितीय है। जगत् में अपरिहार्य कुछ भी नहीं है और हम अपने सन्मुख आनेवाली भीषणतम आपत्तियों एवं बाधाओं का निवारण कर सकते हैं। केवल हमें आशा का परित्याग नहीं करना चाहिये। उन्होंने हमें संकट में सहन-शीलता की शिक्षा दी, दुःख में धैर्य एवं नैराश्य में उत्साह दिलाया। उन्होंने कहा, बाह्य स्वरूपों से भ्रमित न होओ। सबके अन्तराल में दैवी इच्छा छिपी है, इस विश्व में एक प्रयोजन निहित है। इस प्रयोजन से सहकारिता करो, इसे प्रयत्नपूर्वक हस्तगत करो। स्वामीजी के जीवन से हम त्याग, उत्साह, सेवा और संयम के आदर्शों की शिक्षा ले सकते हैं। वह समय याद आता है जब श्रीरामकृष्ण ने उन पर नेतृत्व की मुहर लगायी थी। उनके अन्तिम शब्द उनके शिष्यों में से केवल विवेकानन्द के लिये ही थे— "नरेन, इन बच्चों को देखना।" उनमें से कई तो स्वामीजी से आयु में बड़े थे। किंतु उपदेश जो मिला—भविष्यवाणी-सा उपदेश। उन्होंने रामकृष्ण

मिशन की स्थापना की, जिसकी भारत एवं विदेशों में शाखाएँ हैं। आध्यात्मिक जागृति एवं समाज-सेवा के क्षेत्र में मिशन द्वारा की जानेवाली महत्त्वपूर्ण सेवाओं से मैं परिचित हूँ। मिशन की स्थापना स्वामीजी की दूरदर्शिता का परिणाम है, तथा वह आज हमारे समक्ष कार्यशील है; और मुझे पूर्ण विश्वास है कि वह उस विशाल मानवता के आध्यात्मिक कल्याण एवं भौतिक पालन के लिये अनेक वर्षों तक कार्य करता रहेगा जो आज असंयत तुच्छ भौतिकवाद से ग्रस्त है।

अतएव यह आवश्यक है कि उस महान् आत्मा ने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, उसने हमें जो शिक्षा दी, उसको हम स्मरण रखें। यह मात्र शताब्दि के अवसर पर स्मरण कर लेने का प्रश्न नहीं है, किन्तु हमें यह समझने का प्रयत्न करना है कि वे हमसे किन कर्तव्यों का पालन कराना चाहते थे। हमें उन सबको आत्मसात् करना चाहिये, अपने जीवन में उतारना चाहिये तथा विवेकानन्द- जैसे महापुरुष की जन्मदात्री भारतमाता के सुयोग्य पुत्र बनने का प्रयत्न करना चाहिये।

सारा पश्चिम एक ज्वालामुखी पर बैठा है, जो कल ही फूट सकता है, और टूक-टूक हो जा सकता है।

—स्वामी विवेकानन्द।

स्वामी विवेकानन्द

(गतांक से आगे)

ले०—श्रीमत्स्वामी गम्भीरानन्दजी

शास्त्र कहते हैं कि शिष्य का मन यदि तैयार हो, तो ईश्वर की कृपा से गुरु की प्राप्ति में विलम्ब नहीं होता। सिमुलिया मुहल्ले के सुरेन्द्रनाथ मित्र ने सन् १८८१ ई० के नवम्बर मास में एक दिन श्रीरामकृष्ण एवं भक्तमण्डली को अपने घर सादर आमंत्रित कर एक छोटा सा उत्सव किया। सुमधुर संगीत के बिना उत्सव फीका पड़ जाता इसलिए सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्र को वहाँ ले आये। वे नरेन्द्र से पहले से परिचित थे। श्रीरामकृष्ण और उनके प्रमुख लीलासहायक का यही प्रथम मिलन था। "नरेन्द्रनाथ को उस दिन देखते ही श्रीरामकृष्ण उनकी ओर विशेष रूप से आकर्षित हुए थे, यह बात सहज ही मालूम पड़ती है। क्योंकि, श्रीरामकृष्ण ने पहले सुरेन्द्रनाथ को और बाद में रामचन्द्र को निकट बुलाकर सुगायक युवक का यथासम्भव परिचय प्राप्त किया था और उन दोनों से अनुरोध किया था कि वे एक दिन उस युवक को उनके पास दक्षिणेश्वर ले आयें। इतना ही नहीं, जब भजन समाप्त हुआ तो वे स्वयं उस गायक युवक के समीप चले आये और विशेष रूप से उसके अंगों के लक्षण देखते हुए, उससे दो-एक बातें कहकर उसे शीघ्र ही दक्षिणेश्वर आने का निमंत्रण दे आये।"

इस घटना के कुछ सप्ताह बाद नरेन्द्र की एफ० ए० की परीक्षा समाप्त हो गयी। शहर के एक सम्भ्रान्त व्यक्ति ने नरेन्द्र के साथ अपनी कन्या के विवाह का प्रस्ताव रखा। पात्री साँवली थी इसलिए उसके पिता दहेज में दस हजार रुपये देने को तैयार थे। विश्वनाथ और अन्य सम्बन्धियों ने नरेन्द्र को भरसक समझाया, पर नरेन्द्र विवाह के लिए सहमत न हुए। श्रीरामकृष्ण के भक्त रामचन्द्र दत्त का पालन-पोषण नरेन्द्र के पिता के ही घर पर हुआ था। उन्होंने जब देखा कि धर्मभाव की प्रेरणा से नरेन्द्र वैराग्य की ओर झुक रहे हैं, तो उन्होंने नरेन्द्र को सलाह दी, "यदि सचमुच ही तुम धर्म की प्राप्ति की कामना करते हो, तो चलो दक्षिणेश्वर चलें श्रीरामकृष्ण के पास।" तदनुसार १८८१ ई० के पूस महीने में एक दिन सुरेन्द्र की गाड़ी में सुरेन्द्र और रामचन्द्र के साथ नरेन्द्र दक्षिणेश्वर आये।

दक्षिणेश्वर में नरेन्द्र के इस प्रथम आगमन की बात श्रीरामकृष्ण ने इस प्रकार बतायी थी—"पश्चिम ओर (गंगा की तरफ) के दरवाजे से नरेन्द्र पहली बार इस कमरे में आया था। मैंने देखा, अपने शरीर की ओर उसे ध्यान नहीं है, पोशाक और सिर के बालों में कोई तरतीब नहीं है, दूसरे लोगों के समान बाहर की किसी भी वस्तु में उसका विशेष चाव नहीं है, उसका सब कुछ मानो अलग-अलग है। उसकी आँखों को देखकर ऐसा लगा मानो कोई उसके मन के अधिकांश भाग को बलपूर्वक भीतर की ओर खींचे हुए है। उसे देखकर लगा कि हाँ, विषयी लोगों से भरे इस कलकत्ता शहर

में इतने बड़े सत्त्वगुणी आधार का रहना भी सम्भव है !" जमीन पर चटाई बिछी थी। नरेन्द्र उस पर बैठे। श्रीरामकृष्ण के आदेश पर नरेन्द्र ने बँगला गीत गाया—"मन, चलो निज निकेत में। विदेशी के वेश में व्यर्थ ही क्यों घूमते हो इस संसार-विदेश में।" इत्यादि। नरेन्द्र अपने समूचे मन-प्राण के साथ विभोर होकर गाने लगे। श्रीरामकृष्ण को गीत सुनकर भावावेश हो आया। जैसे ही गीत समाप्त हुआ, श्रीरामकृष्ण सहसा उठे और नरेन्द्र का हाथ पकड़ कर उन्हें अपने कमरे के उत्तरी बरामदे में ले गये। उत्तर की शीतल वायु से बचने के लिए बरामदे के खम्भों के बीच टट्टियाँ लगा दी गयी थीं। बरामदे में आकर श्रीरामकृष्ण ने कमरे का दरवाजा बन्द कर दिया और नरेन्द्र का हाथ अपने हाथों में लेकर आँखों से आनन्दाश्रु की धार बहाते हुए पूर्वपरिचित की तरह कहने लगे, "क्या इतने दिनों बाद आना चाहिए ? मैं किस प्रकार तुम्हारी बाट जोहता बैठा हुआ हूँ इसका तो कुछ ख्याल करना था।" वे कहते थे और रोते थे। फिर दूसरे ही क्षण वे हाथ जोड़कर खड़े हो गये और कहने लगे, "मैं जानता हूँ, प्रभु ! तुम वही पुरातन ऋषि हो, नररूपी नारायण हो, जीवों की दुर्गति दूर करने के लिए तुमने फिर से शरीर धारण किया है।" श्रीरामकृष्ण का यह विचित्र आचरण देख नरेन्द्र स्तम्भित हो गये और सोचने लगे, "यह मैं किसे देखने आया, यह तो पूरा पागल है ! कहाँ मैं विश्वनाथ दत्त का पुत्र और कहाँ इसकी अजीबोगरीब बातें !" इधर श्रीरामकृष्ण दूसरे ही क्षण नरेन्द्र को वहीं रहने को कहकर अपने कमरे से

मक्खन, मिश्री और सन्देश ले आये और नरेन्द्र को अपने हाथ से खिलाने लगे। नरेन्द्र जितना ही कहते, "रहने दीजिए, साथियों के साथ मिलकर खाऊँगा," श्रीरामकृष्ण उतना ही "वे लोग खा लेंगे, अभी तुम खा लो" कहते हुए नरेन्द्र को खिलाते जाते। पूरा खिलाकर ही उन्हें सन्तोष हुआ। तत्पश्चात् नरेन्द्र का हाथ पकड़कर कहने लगे, "वचन दो कि तुम शीघ्र ही एक दिन यहाँ मेरे पास अकेले आओगे।" सिर पर आयी विपत्ति से रक्षा पाने के लिए नरेन्द्र झट 'आऊँगा' कहकर कमरे के अन्दर चले आये। यहाँ बैठकर नरेन्द्र ने देखा कि कुछ क्षण पहले जो पागलवत् आचरण कर रहे थे वही ठाकुर अभी उच्च धर्मचर्चा कर रहे हैं, त्याग और वैराग्य की बातें कह रहे हैं— उनकी बातों में कहीं कोई असम्बद्धता नहीं है, आचरण में भी पागलपन रंचमात्र नहीं है। नरेन्द्रनाथ दोनों अवस्थाओं में ठीक मेल नहीं बिठा सके, इसलिए उन्होंने निश्चय किया कि ठाकुर अर्धपागल हैं; पर पागल होते हुए भी उनका त्याग और पवित्रता अनुपम है और इसीलिए वे मानव-हृदय की श्रद्धा, पूजा एवं सम्मान के अधिकारी हैं। इसी प्रकार सोचते-सोचते वे अपने घर लौटे।

इधर नरेन्द्र के चले जाने के बाद से ठाकुर के हृदय में नरेन्द्र से पुनः मिलने की इच्छा बलवती होती गयी। उनका हृदय इतना व्याकुल हो गया कि कई बार उन्हें ऐसा लगता मानो कोई उनकी छाती को गमछे के समान निचोड़े डाल रहा है। जब पीड़ा असह्य हो उठती, तो वे झाऊतला की ओर चले जाते और "अरे, आ रे आ, तुझे बिना देखे अब

रहा नहीं जाता" कहते हुए जोरों से रोने लगते। बाद में अन्य कुछ बालक-भक्तों के लिए भी उनमें व्याकुलता आयी थी, पर उनकी स्वयं की वाणी है, "नरेन्द्र के लिए जिस प्रकार हुई थी, उसकी तुलना में अन्य दूसरों के लिए उत्पन्न व्याकुलता नगण्य थी।"

उधर नरेन्द्रनाथ सन्देह के हिंडोले में झूलते हुए घर लौटे थे। उनकी जीवनधारा पहले के ही समान बहने लगी। पर दक्षिणेश्वर की वह दुर्बोध्य तथापि मधुर स्मृति एवं उनकी सत्यनिष्ठा बारम्बार उन्हें दक्षिणेश्वर जाने के लिये प्रेरित करने लगी। अन्त में एक दिन वे पैदल ही दक्षिणेश्वर के लिए निकल पड़े। वहाँ पहुँचकर देखा कि ठाकुर अकेले अपने कमरे में छोटे तख्त पर बैठे हैं। श्रीरामकृष्ण नरेन्द्र को देखकर आह्लादित हो उठे और उन्होंने स्नेहपूर्वक नरेन्द्र को पास बुलाकर अपने बाजू में बिठाया। फिर मानो विह्वल हो, अस्पष्ट रूप से कुछ कहते-कहते वे धीरे-धीरे नरेन्द्र की ओर सरकने लगे। नरेन्द्र सोचने लगे, मालूम नहीं यह पागल आज कौनसा तमाशा रचता है! वे ऐसा सोच ही रहे थे कि श्रीरामकृष्ण ने अपने दाहिने पैर से नरेन्द्र के शरीर को छू दिया। बस! क्या था! तत्क्षण नरेन्द्र देखने लगे कि सारी वस्तुएँ तीव्र वेग से चक्कर काटती हुई जाने कहाँ विलीन हुई जा रही हैं— निखिल विश्व के साथ उनका अहंभाव मानो किसी एक महाशून्य की ओर जोरों से भागा जा रहा है! तो क्या मृत्यु आ गयी? नरेन्द्र अपने आपको न रोक सके और चिल्ला उठे, "अजी, तुमने मुझे यह क्या कर दिया, मेरे माता-पिता

जो हैं !" यह सुनकर अद्भुत ठाकुर जोरों से हँस पड़े और अपने हाथ से नरेन्द्र के वक्ष को छूते हुए बोले, "अभी रहने दो, एकदम से कोई जरूरत नहीं—समय में होगा।" नरेन्द्र ने अचरज से देखा कि त्योंही सब पूर्ववत् हो गया ! यह क्या मोहिनी विद्या है ? विश्वास करने की इच्छा नहीं हुई; क्योंकि नरेन्द्र यह सोच नहीं सकते थे कि उनके समान प्रबल इच्छा-शक्ति सम्पन्न, पुरुषार्थी व्यक्ति को ऐसे दुर्बल व्यक्ति से सहज ही परास्त हो जाना पड़ेगा। वे तो श्रीरामकृष्ण को अर्धपागल समझते थे और मन में कल्पना तक न ला सकते थे कि उन्हें श्रीरामकृष्ण के वश में आ जाना पड़ेगा। उन्होंने सोच-विचार कर स्थिर किया कि समझ के भी परे कई बातें होती हैं और यह बात उन्हीं में से एक है। साथ में उन्होंने यह भी सोचा कि जो व्यक्ति इच्छामात्र से एक शक्तिशाली मन को भी मिट्टी के लोंदे की तरह बना-बिगाड़ सकता है, उसे पागल भी नहीं कहा जा सकता। उधर श्रीरामकृष्ण सहज रूप से हास-परिहास और आलाप-चर्चा कर रहे थे। कितना दुलार ! किस प्रकार स्नेह से खिलाना ! मानो उनकी आस ही न मिटती हो ! नरेन्द्र के विदा लेते समय वे पुनः पकड़ बैठे, "वचन दो, फिर से जल्दी आओगे ?" नरेन्द्र क्या करते ! पुनः प्रतिज्ञाबद्ध होकर ही वे घर लौटे।

नरेन्द्र शीघ्र ही फिर से दक्षिणेश्वर आये। उस दिन भी कोई नहीं था। श्रीरामकृष्ण उन्हें समीप स्थित जदुलाल मल्लिक के उद्यानभवन में घुमाने ले गये। उद्यान और गंगा तीर पर थोड़ी देर टहलने के पश्चात् श्रीरामकृष्ण बैठकखाने

में आकर बैठ गये। नरेन्द्र ने देखा कि उस दिन के ही समान ठाकुर का भावान्तर हो रहा है। नरेन्द्र सावधान होकर बैठ गये। ठाकुर पहले के ही समान अचानक समीप आये और नरेन्द्र को छू दिया। नरेन्द्र त्योंही पूरी तरह बेहोश हो गये। जब उनकी चेतना लौटी, उन्होंने देखा कि ठाकुर उनकी छाती पर अपना हाथ फिरा रहे हैं और उन्हें होश में आया देखकर मन्दमधुर हँस रहे हैं। बेहोश नरेन्द्र से ठाकुर ने उस दिन पूछा था कि वह कौन है—कहाँ से आया है—क्यों आया है—कितने दिन धराधाम में रहेगा, इत्यादि। नरेन्द्र ने भी उस अवस्था में अपने अन्तस्तल में जाकर उन प्रश्नों के ठीक-ठीक उत्तर दिये थे। उत्तरों को सुनकर ठाकुर निश्चिन्त हो गये कि जो कुछ उन्होंने नरेन्द्र के सम्बन्ध में देखा या सोचा था, सभी सत्य है। उन्होंने जान लिया कि जिस गुण या शक्ति का दो-एक अंश किसी व्यक्ति में रहने पर वह जनसाधारण में विपुल ख्याति अर्जन करता है अथवा अपने मत की प्रतिष्ठा के लिए संघ का गठन करता है, उसी के अठारह अंश नरेन्द्र के भीतर विद्यमान हैं। यदि नरेन्द्र ईश्वर, जगत् और मानव-जीवन के उद्देश्य सम्बन्धी चरम तथ्यों की उपलब्धि करके इस शक्ति का ठीक-ठीक प्रयोग न कर सके, तो वह उनके हित के विपरीत होगा। इसलिए इस घटना के बाद से श्रीरामकृष्ण इस ओर विशेष ध्यान देने लगे कि नरेन्द्र अपने जीवन के उद्देश्य और उनके (ठाकुर के) महान् भाव को ठीक-ठीक ग्रहण कर ले तथा अपनी जीवनधारा को उसकी सफलता के लिए तदनुरूप मोड़ दे दे। नरेन्द्र ने भी देखा

उस दैवबल से बली, आध्यात्मिक शक्तिसम्पन्न महापुरुष को, जो उनके समान व्यक्ति के मन को अनायास ही उच्च पथ की ओर अग्रसर करा दे सकते थे। उन्होंने सोचा कि इनकी इच्छा के विपरीत चलना श्रेयस्कर न होगा; ऐसे महापुरुष का कृपापात्र बनना तो बड़े भाग्य की बात है। नरेन्द्र का मन पाश्चात्य शिक्षा के संस्कारों से प्रभावित था और ब्राह्मसमाज के स्वाधीन चिन्तन का अभ्यस्त हो चुका था। पर आज उनके मन को बाध्य होकर मानना पड़ा कि भले ही संख्या विरल हो पर सचमुच ऐसे महामानव विद्यमान हैं, जो सत्य का प्रत्यक्ष पता दे सकते हैं। अतः उन्होंने श्रीरामकृष्ण के चरणों में आत्मसमर्पण करना ही श्रेयस्कर माना। किन्तु इसके साथ ही उन्होंने यह भी दृढ़ संकल्प किया कि भले ही वे ठाकुर की अधीनता स्वीकार कर लेंगे तथापि बिना विचार किये वे कुछ भी ग्रहण नहीं करेंगे। जाँचने-परखने पर जो सत्य मालूम पड़ेगा, उसी को अपनायेंगे और शेष अन्य को या तो अस्वीकार करेंगे या उपेक्षित कर देंगे।

नरेन्द्र को दीर्घ पाँच वर्ष श्रीरामकृष्ण के सान्निध्य में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। युगावतार के अद्भुत प्रेम से खिंचकर वे लगभग हर सप्ताह एक या दो बार दक्षिणेश्वर चले जाते और कभी-कभी वहीं रह जाते थे। ठाकुर भी नरेन्द्र को देखकर आनन्द से विभोर हो उठते। अधिक दिन नरेन्द्र के न आने से वे बिछोह से व्याकुल हो जाते थे। कई बार जब व्याकुलता असह्य हो जाती, तो वे नरेन्द्र को देखने कलकत्ता चले जाते। जब वे भक्तों के बीच नरेन्द्र की बातें

करते, तो उनकी प्रशंसा में सहस्रमुख हो उठते थे। युवक-भक्तों का वे नरेन्द्र से परिचय करा देते और सभी बातों में नरेन्द्र पर अगाध विश्वास रखते थे। नरेन्द्र की तत्कालीन तेजस्विता और स्वच्छन्द व्यवहार यद्यपि आलोचकों की आँखों में उच्छृङ्खलता का ही एक रूप मालूम होते थे, तथापि गम्भीर अन्तर्दृष्टि सम्पन्न ठाकुर यह जानते थे कि इस पुरुष-प्रवर को भित्ति बनाकर ही उनके युगधर्म के प्रचार का सौध खड़ा होनेवाला है। नरेन्द्र के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण की धारणा कितनी ऊँची थी इसका कथंचित् आभास निम्नोक्त बातों से लग सकेगा। एक समय श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्र के सामने ही कहा, "मैंने देखा कि केशव[1] जिस एक शक्ति के विशेष उत्कर्ष से जगद्विख्यात हुआ है, नरेन्द्र के भीतर उस प्रकार की अठारह शक्तियाँ पूर्ण मात्रा में विद्यमान हैं। फिर देखा, केशव और विजय[2] के भीतर में ज्ञानालोक दीपशिखा की तरह जल रहा है; बाद में जब नरेन्द्र की ओर मैंने दृष्टि फेरी तो देखा कि उसके भीतर ज्ञानसूर्य प्रज्वलित है और माया-मोह का लेश मात्र तक वहाँ नहीं है!" नरेन्द्र को अपने सम्बन्ध में ऐसी-ऐसी प्रशंसाएँ सुनकर तनिक भी अहंकार न हुआ, बल्कि उलटे वे क्षोभ और लज्जा से प्रतिवाद करते हुए बोले, "महाशय, यह क्या करते हैं ? लोग आपकी ऐसी बातें सुनकर आपको पागल करार देंगे। कहाँ संसारप्रसिद्ध केशव और महामना विजय, और कहाँ मैं स्कूल का एक तुच्छ

१. ब्राह्मसमाज के प्रसिद्ध नेता केशवचन्द्र सेन। (सं०)
२. ब्राह्मसमाज के प्रसिद्ध नेता विजयकृष्ण गोस्वामी। (सं०)

छोकरा !" ठाकुर नरेन्द्र की इस उक्ति से सन्तुष्ट हुए और मृदु हास्य करते हुए कहा, "क्या करूँ रे ! तू क्या सोचता है कि मैं इस प्रकार कह रहा हूँ ? माँ (जगन्माता) ने मुझे ऐसा दिखाया है, इसीलिए ऐसा कहता हूँ, माँ ने मुझे सत्य के अलावा मिथ्या कभी बताया ही नहीं, इसीलिए मैंने ऐसा कहा ।"

नरेन्द्र भी सचमुच में श्रीरामकृष्ण के प्रेम में बँध गये थे । इसीलिए वे श्रीरामकृष्ण से वह प्रश्न करने में हिचक रहे थे, जो उन्होंने ब्राह्मसमाज आदि के कितने ही लोगों से पूछा था, पर उन्हें एक भी ऐसा न मिला था जो उत्तर दे सकता कि उसे ईश्वर का साक्षात्कार हुआ है । यद्यपि भीतर से इच्छा तो हो रही थी कि ठाकुर से भी वह प्रश्न पूछा जाय, तथापि उन्हें यह डर भी हो रहा था कि "यदि ये भी प्रश्न का सीधा उत्तर न दे टालमटोल कर दें, तब तो खड़े रहने की भी जगह न रहेगी ।" जो हो, वे मन की यह अशांति अधिक समय तक दबाकर न रख सके, इसलिए एक दिन वे साहस करके ठाकुर को पूछ ही बैठे, "महाशय, क्या आपने ईश्वर-दर्शन किया है ?" तत्क्षण द्विधाहीन स्पष्ट उत्तर मिला, "हाँ जी, यही जैसे तुम्हें देख रहा हूँ ।" ठाकुर इतना कहकर ही न रुके; उन्होंने नरेन्द्र को बतलाया कि वे उन्हें भी ईश्वर-दर्शन करा दे सकते हैं । नरेन्द्र को अँधेरे में रास्ता मिला । पर तो भी उनका तार्किक मन श्रीरामकृष्ण की ओर से सभी बातों में निःशंक न हो पाया । इसीलिए तो जब ठाकुर अपनी अनुभूतियों या नरेन्द्र के भविष्य सम्बन्धी गोपनीय तथ्यों को

बतला करके विश्वास उत्पन्न करने के लिए कहते कि "माँ ने दिखाया है या बताया है," तो स्पष्टवादी निर्भीक नरेन्द्रनाथ तर्क का सहारा लेकर कह देते, "माँ दिखाया करती हैं या आपके मस्तिष्क की यह सब उपज है, इसे कौन बता सकता है ?" यह कहकर वे ठाकुर को पाश्चात्य मनोविज्ञान के बल पर यह समझाने का प्रयत्न करते कि हमारी चक्षु आदि इन्द्रियाँ हमें बहुधा छलती रहती हैं और इस प्रकार के दर्शन आदि मन की वासना के अनुरूप होते हैं। कभी-कभी नरेन्द्र की ऐसी बात ठाकुर को चिन्तामग्न कर देती—"अरे, ऐसा है ! तन-मन-वचन से सत्यपरायण नरेन्द्र झूठी बात तो कहेगा नहीं !" इस प्रकार विषम चिन्ता में पड़ने पर समाधान के लिए अन्त में श्रीजगदम्बा के शरणापन्न होने पर एक बार माँ ने कह दिया, "उसकी (नरेन्द्र की) बात तू सुनता क्यों है ? वह तो बच्चा ठहरा ! कुछ समय बाद वह सब बातों को सत्य समझने लगेगा।" माता की वाणी पर नितान्त निर्भरशील ठाकुर इस आश्वासन-वाणी से ही निश्चिन्त हो गये।

दक्षिणेश्वर आवागमन के साथ-साथ नरेन्द्र की कालेज की पढ़ाई भी चल रही थी। वे अद्भुत स्मरण-शक्ति लेकर जनमे थे, अतः कालेज की पढ़ाई थोड़े ही समय में हो जाती और शेष समय वे अपने मित्रों के साथ हास-परिहास में अथवा विविध विषयों के सीखने में लगाया करते थे। प्रवेशिका-परीक्षा देने के वर्ष के प्रारम्भ से (१८७९ ई०) उन्होंने भारतवर्ष का समूचा इतिहास बड़े आग्रह से पढ़ा था। एफ०

ए० पढ़ते समय न्यायशास्त्र के कई ग्रन्थों का एक-एक करके अध्ययन किया था। बी० ए० परीक्षा के पहले वे इंग्लैण्ड और यूरोप के वर्तमान और प्राचीन इतिहास से तथा पाश्चात्य दर्शनशास्त्रों से अच्छी तरह परिचित हो चुके थे। इस पठन शीलता के कारण उनकी द्रुत पढ़ने की शक्ति का अद्भुत विकास हुआ था। उन्हें ग्रन्थ की प्रत्येक पंक्ति को पढ़ना नहीं पड़ता था—प्रत्येक अनुच्छेद (पैराग्राफ) की प्रथम और अन्तिम पंक्ति में मन को निविष्ट करने से ही वे ग्रन्थकार के वक्तव्य को समझ लेते थे। इतना ही नहीं, धीरे-धीरे यहाँ तक हुआ कि प्रत्येक पृष्ठ की प्रथम और अन्तिम पंक्ति में दृष्टि डालने से ही उनका काम बन जाता था और कभी-कभी तो वे एक साथ तीन-चार पृष्ठों को उलट जाते थे। नरेन्द्र ने विद्यार्थी-जीवन में सब प्रकार की विलासिता का त्याग किया था। वे एक ब्रह्मचारी के आदर्श पर चलते थे। अपने हमजोली मित्रों में से यदि किसी को शौकीन तबीयत का देखते, तो उसे मुँह पर ही दो-एक बातें कह देते। विशेष करके, यदि वे किसी के चलने-फिरने में स्त्री-सुलभ हावभाव का आभास पाते, तो उस पुरुषसिंह का धीरज छूट जाता। इसी समय से उन्हें एकान्तवास का अवसर भी मिला। बी० ए० परीक्षा सन्निकट थी। घर में बच्चों और अन्य जनों के अनवरत कोलाहल से उन्हें पढ़ने में असुविधा होने लगी। अतः उन्होंने अपनी नानी के बहिर्गृह में दुमंजले के एक छोटे कमरे में आश्रय लिया; भीतर के कमरों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। जब तक वे अपनी उस दिन

की पढ़ाई पूरी न कर लेते, तब तक कमरे से निकलते न थे। बाहर की ओर से सीढ़ियाँ चढ़कर उपर आने पर दीखता था—एक छोटा कमरा, जिसकी चौड़ाई चार हाथ और लम्बाई लगभग दुगुनी, सामानों में एक कैन्वस की खाट,उस पर छोटा सा मैला तकिया, जमीन पर फटी चटाई और एक कोने में एक तानपूरा, सितार और बायाँ। इस कमरे का नाम उन्होंने 'तंग' रखा था। भले ही नरेन्द्र स्वजन-सम्बन्धियों से अलग थे, पर उनका वह अध्ययन-कक्ष भी उनकी मित्रवत्सलता के कारण बन्धुओं के साथ विविध चर्चा और संगीत आदि से प्रायः ही मुखरित हो उठता। साथियों को वे रोक भी न पाते थे। इसलिए उन्होंने एक उपाय ढूँढ़ निकाला था। 'तंग' से लगी हुई उससे भी छोटी एक चोर-कोठरी थी। नरेन्द्र जब एकान्त में अध्ययन करना चाहते, तब उसी कोठरी में चले जाते और घुटनों के बल बैठकर दीर्घ समय तक, दूसरों की दृष्टि से ओझल रहकर, पढ़ाई में लगे रहते। नरेन्द्र बड़े घर के लड़के थे, उनके यहाँ बहुत से नौकर-चाकर थे, पर उनका समय इसी प्रकार के आडम्बर-हीन दीन परिवेश में तथा निर्धन सहपाठियों के साहचर्य में बीतता था। फिर इसी के बीच रात्रि में ईश्वरप्रणिधान में उनका बहुतसा समय बीतता था। नरेन्द्र के चरित्र में इन सब विपरीत भावों का एकत्र समावेश देखकर लोग चकित हो जाते थे। फिर, कालेज में भी उन्होंने ख्याति अर्जित की थी। तभी तो दर्शन के अध्यापक हेस्टी साहब ने कहा था, "नरेन्द्र यथार्थ में एक प्रतिभाशाली बालक है।"

बी० ए० पास करके नरेन्द्र ने बी० एल० की पढ़ाई शुरू की। किन्तु बी० ए० परीक्षा के थोड़े दिन बाद ही (१८८४ई० के प्रारम्भ में) उनके पिता की मृत्यु हो गयी। पिता की आय जिस प्रकार खासी अच्छी थी, घर का खर्च भी उसी प्रकार बढ़ा हुआ था। विश्वनाथ हाथ खोलकर खर्च करते थे। इसलिए परिवार के लिए कुछ भी न बचा गये। परिवार पर विपत्ति आयी देखकर नरेन्द्र के पिता के यहाँ पले मित्र-स्वजन किनारा काट गये। उस परिवार से शत्रुता रखने वाले जो दूसरे आत्मीय -स्वजन थे, उन्होंने अपना वैर भँजाने का अच्छा मौका देखा और सारी सम्पत्ति हड़पने के प्रयत्न में लग गये। आगे चलकर दरिद्रनारायण की सेवा का प्रवर्तन कर जो विश्ववन्ध होने वाले थे, आज उनको दारिद्र्य की प्रत्यक्ष अनुभूति देने के लिए ही मानो यह आयोजन था ! पर यह अनुभूति, यह शिक्षा उनको बड़ी महँगी पड़ी, क्योंकि यह बड़ी भयंकर थी, मर्मान्तक थी ! जिनके यहाँ महीने में हजार रुपये खर्च होते थे और जिनकी कृपा पाने के लिये बहुतेरे लोग लालायित रहते थे, आज वही नरेन्द्र पैदल कालेज जा रहे हैं और वह भी नंगे पैर, तन पर मोटा सा कपड़ा और पेट अन्न से खाली ! जो जन्म से ही दरिद्र हैं, उन्हे दरिद्रता का ठीक- ठीक बोध नहीं होता। पर अकारण ही जो सहसा धन से वंचित हो जाते हैं और जिन्हें फाँकेकशी की नौबत आ जाती है; माता, भाई, बहिन के सूखे चेहरों को देखकर जिन्हें किसी प्रकार आँसुओं को दबाकर मुँह फेरकर चले जाना पड़ता है, वे ही समझ सकते हैं कि 'दारिद्र्यदोषो

गुणराशिनाशी' यह उक्ति कितनी सत्य है! घर में अन्न का अभाव देखकर नरेन्द्र 'आज मेरा निमंत्रण है' कहकर बाहर चले जाते और इस प्रकार अनेक दिन बिना खाये ही रह जाते। मौका पाकर महामाया ने भी अपना मोहजाल फैलाया। एक समर्थ महिला ने नरेन्द्र के पास प्रस्ताव भेजा कि यदि वे चाहें तो उसकी सम्पत्ति ग्रहण कर अपने कष्टों का निवारण कर सकते है। अत्यन्त अवज्ञा और कठोरता का अवलम्बन करके ही नरेन्द्र उस परीक्षा में उत्तीर्ण हुए।

घर की इस शोचनीय आर्थिक दशा से माता भुवनेश्वरी भी बड़ी विचलित हो गयीं। एक सुबह शय्या-त्याग करते समय जब नरेन्द्र श्रीभगवान् का नामोच्चारण करने लगे, तो माता कह उठीं, "चुप रह छोकरे! छुटपन से ही खाली भगवान् भगवान्! तेरे भगवान् ने ही तो यह सब किया है!" माता की इस तीव्र मनोवेदना से आहत होकर नरेन्द्र भी इस समस्या से विह्वल हो गये और उनके हृदय में ईश्वर के प्रति घोर अभिमान भर गया। नरेन्द्र मन के भावों को जबरदस्ती छिपाकर रखनेवालों में से नहीं थे, अतः वे युक्ति-तर्क की सहायता से अपना मनोभाव अपने साथियों के समक्ष खोल-कर रखने लगे। बात फैलती है और फैलते-फैलते विकृत होने लगती है। नरेन्द्र के सम्बन्ध में भी बात विकृत होकर फैलने लगी—नरेन्द्र नास्तिक हो गया है, नरेन्द्र कुसंग में पड़ गया है। कलकत्ते के भक्तों ने भी यह बात सुनी और उनमें से कोई-कोई नरेन्द्र से मिलने आये। वार्तालाप के प्रसंग में वे इशारे से समझाना न भूले कि अफवाह की सारी बातें

भले ही सत्य न हों पर अधिकांश विश्वासयोग्य है। नरेन्द्र ने कभी न सोचा था कि ये लोग उन्हें इतना पतित समझेंगे। वे अभिमान से भर गये और पाश्चात्य दर्शन का सहारा लेकर कहने लगे कि ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित नहीं किया जा सकता, दण्ड के डर से भगवान् में विश्वास करना कोरी दुर्बलता है! फल यह हुआ कि भक्तों ने धारणा दृढ़तर करली कि नरेन्द्र का अधःपतन बिलकुल स्पष्ट है और वे चले गये। यह देख नरेन्द्र को आनन्द ही हुआ। धीरे-धीरे ये बातें श्रीरामकृष्ण के कानों में पहुँची; वे तो जगदम्बा के अभ्रान्त निर्देश के अनुसार चलते थे। अतः जब बार-बार उनके कानों में नरेन्द्र के विरुद्ध बातें आने लगीं, तो खीजकर वे बोल उठे, "चुप रहो, दुष्टो! माँ ने बताया है कि वह कभी भी वैसा नहीं हो सकता। अब और कभी तुम लोगों से यदि मैंने ऐसी बातें सुनी, तो तुम लोगों का चेहरा न देख सकूँगा!'

नरेन्द्र आहार जुटाने के लिये नौकरी की खोज में घूमने लगे। एक दिन थकी देह और उससे भी अधिक थका मन लेकर वे घर लौटने लगे और सोचने लगे- आखिर शिव के संसार में अशिव की ऐसी ताण्डवलीला क्यों? ईश्वर के न्याय के राज्य में इतना अन्याय क्यों? अनाहार से क्षीण उनका शरीर अब एक कदम भी आगे बढ़ने में असमर्थ हो गया। वे बाजू के मकान के बरामदे में निर्जीव जड़ की तरह पड़ रहे। बाहर का बोध कब तक लुप्त रहा यह तो वे न जान सके, किन्तु भीतर में मानो दैवी शक्ति के प्रभाव से आवरण पर आवरण निकलते चले गये और उनकी सारी

समस्याएँ एक-एक करके मिट गयीं। इस प्रकार सारी रात बीत जाने पर जब पौ फटने को थी, तब नरेन्द्र जागे। यद्यपि वे बाहरी जगत् पर भीतर की उस प्रशान्ति की कोई छाप न देख पाये, तथापि असीम बल और अदम्य विश्वास लेकर ही वे घर लौटे और फिर से अर्थोपार्जन के लिए महानगरी के राजपथ पर उतर पड़े। माता आदि के प्रति कर्तव्यपालन में दृढ़प्रतिज्ञ नरेन्द्रनाथ कुछ समय विद्यासागर महोदय के बहूबाजार स्थित विद्यालय में शिक्षक के रूप में रहे। तत्पश्चात् कुछ समय तक वे एटर्नी का काम सीखने के प्रयत्न में लगे रहे, पर अर्थाभाव के कारण उन्हें बाध्य होकर वह छोड़ देना पड़ा। इस समय उन्होंनें कुछ पुस्तकों का अनुवाद-कार्य भी हाथ में लिया तथा और भी अन्य उपाय किये, जिससे परिवार की रोजी-रोटी चल जाय।

इधर श्रीरामकृष्ण बातों-बातों में नरेन्द्र के प्रति अटूट विश्वास प्रकट करके ही सन्तुष्ट न रहे। उन्होंने देखा कि संसार के कार्यों में लगे रहनेके कारण नरेन्द्र एक लम्बे अरसे से दक्षिणेश्वर नहीं आ पाये हैं, इसलिए वे 'कलकत्ते के भक्तों से नरेन्द्र को दक्षिणेश्वर ले आने का अनुरोध करने लगे। फिर भी नरेन्द्र का जाना न हुआ। इधर दस लोगों की बात सुनकर जब भक्तगण नरेन्द्र की मानसिक अवस्था की जाँच करने उनके पास पहुँचनें लगे और बातचीत के प्रसंग में अपना-अपना सन्देह प्रकट कर देने लगे, तो नरेन्द्र ने सोचा "तो क्या अन्त में श्रीरामकृष्ण को भी मुझ पर सन्देह हो गया है ?" सोचकर नरेन्द्र का मन अभिमान से भर गया

और उन्होंने निश्चय किया कि वे अब दक्षिणेश्वर नहीं जायेंगे किन्तु मन ही मन उन्होंने यह भी अपने तईं समझ लिया कि वे साधारण मनुष्य की भाँति संसारधर्म का पालन करने के लिए पृथ्वी पर नहीं आये हैं। अतः सब ओर से विचार करके उन्होंने यही निश्चय किया कि संसार-त्याग ही श्रेयस्कर है। ऐसे समय एक दिन उन्हें संवाद मिला कि कलकत्ते के एक भक्त के घर श्रीरामकृष्ण का शुभ पदार्पण हो रहा है। नरेन्द्रनाथ श्रीगुरुदेव के अन्तिम दर्शन करने वहाँ उपस्थित हुए। बस, त्योंही ठाकुर ने उन्हें पकड़ लिया—नरेन्द्र को उनके साथ दक्षिणेश्वर चलना होगा। नरेन्द्र ने तरह-तरह से आपत्तियाँ की, पर कोई फल न हुआ—उन्हें दक्षिणेश्वर जाना ही पड़ा। दक्षिणेश्वर पहुँचकर ठाकुर ने भाव के आवेग में विभोर हो नरेन्द्र को अंक में भर लिया और आँसू बहाते हुए गाने लगे,

"कथा कहिते डराइ, ना कहिते डराइ;
(आमार) मने सन्द हय—
बूझि तोमाय हाराइ, हा-राइ !"

'बात कहते डरती हूँ, न कहते डरती हूँ। मेरे मन में सन्देह होता है, हे राधे, कहीं तुम्हें खो न बैठूँ !'

प्रेम के उस उच्छ्वास से नरेन्द्र के हृदय का बाँध टूट गया और उनके नेत्र छलछला आये। उन दोनों के एवंविध आचरण से समीप के सभी लोगों को आश्चर्य हुआ। उनमें कारण जानने का कुतूहल जागा, पर ठाकुर ने स्पष्ट कुछ न कहते हुए केवल इतना ही कहा, "हम दोनों के बीच वह कुछ

हो गया।" उस रात्रि जब भक्तगण अपने-अपने स्थान लौट गये, तो ठाकुर ने अकेले में नरेन्द्र से कहा, "मैं जानता हूँ, तुम माँ का कार्य करने आये हो, कभी भी संसार में नहीं रह सकोगे; पर मैं जितने दिन हूँ, तब तक मेरे लिए रहो।"

दूसरे दिन नरेन्द्र शान्त हृदय से घर लौटे। पर परिवार की दुरवस्था वैसी ही बनी रही। निरुपाय हो एक दिन उन्होंने निश्चय किया कि इस संकट के निवारण के लिए ठाकुर को पकड़ूँगा। ऐसा सोच वे दक्षिणेश्वर उपस्थित हुए और कातर कण्ठ से प्रार्थना की, "आप काली माता से कहकर हम लोगों के सांसारिक कष्टों के निवारण का कोई उपाय कर दीजिए।" ठाकुर ने कहा, "अरे, मैंने माँ के पास कभी किसी बात की इच्छा नहीं की, फिर भी तुम लोगों के लिए मैंने उनसे प्रार्थना की थी। पर तू तो माँ को नहीं मानता, इसीलिए वे तेरी बात पर कान नहीं देतीं।" नरेन्द्र ब्राह्मसमाज की विचार-धारा से प्रभावित थे, इसीलिए वे तब भी प्रतिमापूजन के प्रति आस्थाहीन थे; पर श्रीरामकृष्ण पर उनका पूरा विश्वास था। वे जानते थे कि ठाकुर की इच्छा से उनकी मनोकामना पूरी हो सकती है। अतएव वे ठाकुर की बात से पीछे न हटे, बल्कि उनसे बारम्बार विनती करने लगे। अन्त में श्रीराम-कृष्ण ने कहा, "जा, माँ को प्रणाम करके प्रार्थना कर—हो जायगा।" नरेन्द्र काली मन्दिर में आये। सन्ध्या की सुमधुर आरती-ध्वनि से मानवमन की सारी ग्लानि दूर होकर वाता-वरण में शान्ति बरस रही है, माता के नेत्रों में अपूर्व करुणा भरी है और उनके दोनों ओठों पर मृदुमन्द प्राणमोहिनी

हास्य की छटा है। जीवन्त देवी लोक-कल्याण के लिए वरा-भयकरा होकर मानव को आश्वासन दे रही है— मानो पहले से ही शरणागत की समस्त कामनाओं को पूरा करके रख दिया है। नरेन्द्र ने प्रणाम किया और भाव से गद्‌गद् हो प्रार्थना करने लगे, "माँ, विवेक दो, वैराग्य दो, ज्ञान दो, भक्ति दो।" निःस्पृह हृदय से नरेन्द्र जब श्रीरामकृष्ण के पास लौट आये, तो श्रीगुरु ने पूछा, "क्यों रे, माँ से माँग आया तो?" त्योंही दिव्य भाव में अपने को भूले हुए नरेन्द्र के चित्त-दर्पण में संसार की कराल मूर्ति झलक उठी। वे बोले, "नहीं, महाशय, मैं वह कहना भूल गया।" ठाकुर ने उन्हें फिर से जाने का आदेश दिया। किन्तु वैराग्य की पुंजीभूत मूर्ति नरेन्द्रनाथ माता के चरणों में उपस्थित होकर पुनः संसार को भूल गये। तीसरी बार भी ऐसा ही हुआ। अन्त में विफलमनोरथ हो उन्होंने ठाकुर को ही पकड़ लिया, "महाशय; आपको ही यह करना होगा।" निरुपाय हो ठाकुर ने कहा, "जा, माता की इच्छा से अब से तुम लोगों को मोटे चावल-कपड़े का अभाव न रहेगा।"

नरेन्द्र की पुरुषोचित मति-गति और तेजस्विता देखकर ठाकुर को विशेष आनन्द होता था। उन्होंने एक दिन कहा था, "इसके (अपनी देह के) भीतर जो है वह है शक्ति; उसके (नरेन्द्र के) भीतर जो है वह है पुरुष— वह मेरी ससुराल है।" वे जानते थे कि नरेन्द्र मानो 'खुली तलवार' है; नरेन्द्र के भीतर जो ज्ञानाग्नि जल रही है, उसके तेज में सांसारिक दोष क्षण भर में भस्मीभूत हो जायेंगे। इसीलिए

सकाम व्यवसायी भक्तों द्वारा लाये हुए खाद्य द्रव्यों को वे और किसी को न देकर, बिना किसी हिचक के नरेन्द्र के मुँह में डाल देते थे। यदि कोई नरेन्द्र की प्रशंसा करता, तो कहते, "वैसा क्यों न होगा भला ? उसी के लिए तो इस समय यहाँ का (अपने शरीर का) आना हुआ।" और भी कहते, "वह अखण्ड का घर है; सप्तर्षियों में से एक है; नर-नारायण ऋषि का; नर है," "वह नित्यसिद्धों के दल का है—वह जिस दिन अपने आपको पहचान लेगा, उस दिन देह को छोड़ देगा;" "वह आग है, उसके स्पर्श से पाप-ताप जलकर राख हो जाते हैं; वह यदि सूअर - गाय भी खा ले, तो उसे कोई दोष न लगेगा।"

नरेन्द्र के सम्बन्ध में इतनी उच्च धारणा रखने पर भी श्रीरामकृष्ण नरेन्द्र की भूलों को सुधारने के लिए सदैव तत्पर रहते थे। एक दिन बात-बात में नरेन्द्र ने अन्धविश्वास की बात उठायी। सुनकर ठाकुर बोल उठे, "विश्वास, और उस पर अन्धविश्वास ! अरे, विश्वास मात्र ही तो अन्धा होता है ! विश्वास के कोई आँखें हैं क्या ? या तो कह केवल विश्वास, या फिर कह ज्ञान। अन्ध - विश्वास, आँख - वाला विश्वास—यह कैसी बात है ?" नरेन्द्र भले ही निराकारवादी थे, पर अद्वैत मत में उनकी आस्था नहीं थी। इसीलिए जब उन्होंने ठाकुर के मुख से 'सभी ब्रह्म है' यह बात सुनी, तो कहा था, "हुँ, वह भी कभी हो सकता है ? तब तो लोटा भी ब्रह्म है, कटोरी भी ब्रह्म है।" इस प्रकार की विपरीत समालोचना से भी विचलित न हो, अन्तर्यामी ठाकुर अपने सुयोग्य शिष्य

को अद्वैत मार्ग से ही ले जा रहे थे। साधारण भक्तों को वे भक्ति शास्त्रों की चर्चा में लगाये रखते थे; किन्तु नरेन्द्र की अनिच्छा को जानते हुए भी वे उन्हें 'अष्टावक्रसंहिता'- जैसे अद्वैतमूलक ग्रन्थों को पढ़ने का निर्देश देते। फिर यह सोच कर कि नरेन्द्र इससे कहीं शुष्क ज्ञानी न हो जाय, वे प्रायः ही नरेन्द्र को भक्तप्रवर गिरीशबाबू अथवा श्रीमती 'गोपाल की माँ' के साथ तर्क में भिड़ा देते और मजा लेते।

नरेन्द्र के प्रति श्रीरामकृष्ण के आकर्षण का एक प्रधान कारण यह था कि नरेन्द्र ठाकुर के भाव को दूसरों की अपेक्षा शीघ्र और बड़ी सरलता से हृदयंगम कर लेते थे। सन् १८८४ई० की बात है। एक दिन श्रीरामकृष्ण वैष्णव मत का सार मर्म सबको समझाते हुए कह रहे थे, "इस मत के अनुसार इन तीन बातों का पालन करने के लिए निरन्तर सचेष्ट रहना चाहिए—'नाम में रुचि, जीव पर दया, वैष्णव पूजन।' जो नाम है, वही ईश्वर है—नाम-नामी को अभिन्न जानकर सर्वदा अनुराग के साथ नाम जपो; भक्त और भगवान्, कृष्ण और वैष्णव दोनों को अभिन्न समझकर सर्वदा साधु-भक्तों की श्रद्धा, पूजा और वन्दना करो और यह जगत्प्रपंच कृष्ण ही का है इस तथ्य को हृदय में धारण कर सब जीवों पर दया...।" इतना कहकर ही वे समाधिस्थ हो गये। समाधि टूटने पर कहने लगे, "जीव पर दया, जीव पर दया? दूर हो मूर्ख! तू कीटानुकीट, और जीवों पर दया करेगा? दया करनेवाला तू होता कौन है? नहीं, नहीं जीव पर दया नहीं— शिव-ज्ञान से जीव की सेवा।" इसके

उपरान्त नरेन्द्र बाहर आकर बोले, "आज ठाकुर की बातों में कैसा अद्भुत प्रकाश मुझे देखने को मिला !···ठाकुर ने आज भावावेश में जो कुछ कहा है, उससे यही समझ में आया कि वन के वेदान्त को घर में लाया जा सकता है, संसार के सभी कार्यों में उसका सहारा लिया जा सकता है।··· जो हो, यदि भगवान् ने कभी दिन दिखाया तो आज जो अद्भुत सत्य मैंने सुना है, उसका प्रचार संसार में सर्वत्र करूँगा— पण्डित - मूर्ख, धनी - दरिद्र, ब्राह्मण-चाण्डाल सभी को सुनाकर मोहित करूँगा।" वास्तव में, नर - नारायण के सेवक भावी विवेकानन्द उसी समय से रूप ग्रहण कर रहे थे।

धीरे-धीरे दक्षिणेश्वर के सुमधुर दिन बीत गये। ठाकुर गले के रोग से पीड़ित हो पहले श्यामपुकुर गये और बाद में काशीपुर आ गये। श्यामपुकुर में नरेन्द्र सदैव आते रहते और देखभाल करते थे। बाद में श्रीरामकृष्ण के काशीपुर आ जाने पर वे उनकी सेवा-शुश्रूषा का संचालन करने के लिए वहीं रह गये। काशीपुर का उद्यानभवन श्रीरामकृष्ण-संघ के इतिहास में गुरुसेवा, भगवदाराधना, तपस्या और संघसृष्टि की विभिन्न प्रचेष्टाओं के निदर्शन और आकार-रूप में चिरस्मरणीय है। बहुत से भक्तों ने यद्यपि ठाकुर को अवतार के रूप में स्वीकार कर लिया था, तथापि वे एक बड़े भारी भ्रम के शिकार हो गये थे। वे सोचते थे कि ठाकुर का रोग केवल एक लीला है और ऐसा समझने का कोई कारण नहीं कि उससे उनको सचमुच ही शारीरिक पीड़ा होती है। किन्तु नरेन्द्र के सहयोगी युवकों ने इस

विवाद-वितर्क में भाग न लिया। वे तो कष्ट को आँखों से देख रहे थे, अतः उसे सत्य समझकर बिना किसी तर्क के उन्होंने श्रीगुरु की सेवा में अपने आप को लगा दिया। देव-मानव श्रीरामकृष्ण की लीला में नरेन्द्र के मन में एक ऐसा अनुपम विश्वास था, जिसे केवल मनुष्य अथवा देवता के मापदण्ड से नहीं मापा जा सकता था। एक समय कई लोगों के मन में संशय उठा, कहीं असावधानी के कारण सेवकों की देह में भी श्रीरामकृष्ण के रोग की छूत तो न लग जायगी ? बस, त्योंहीं विश्वास की ज्वलन्त मूर्ति, धधकते अनल-सदृश नरेन्द्रनाथ ने ठाकुर के थूक-मिश्रित पथ्य के पात्र को उठा लिया और बिना हिचक के बचे पथ्य को पी गये— संशय सदा के लिए नष्ट हो गया !

काशीपुर में निवास के समय गुरुभाइयों ने नरेन्द्र की प्रेरणा से शास्त्रपाठ और साधना आदि में विशेष रूप से मन को लगाया। फुरसत के समय वे गहन तत्त्वों की चर्चा करने लगते थे और रात्रि के घने अन्धकार में धूनी जलाकर ध्यान में निमग्न रहा करते थे। उस समय नरेन्द्र ध्यान आदि के लिए बीच-बीच में दक्षिणेश्वर चले जाते। एक समय वे बुद्ध के भाव से इतने प्रभावित हो गये कि तारक (शिवानन्द) और काली (अभेदानन्द) को साथ ले बोध-गया चले गये और वहाँ तीन रात बिता आये।

काशीपुर में जिस समय नरेन्द्रनाथ साधना में लगे हुए थे, उस समय श्रीरामकृष्ण की कृपा से उन्हें बहुतसी अनु-भूतियाँ हुईं। वे ध्यान के समय ललाट के बीच एक त्रिकोण-

कार ज्योति के दर्शन करते थे—श्रीरामकृष्ण ने बताया कि वह ब्रह्मयोनि थी। कई बार नरेन्द्र देखते, धूनी के इर्द-गिर्द बहुत से देवी-देवताओं का समागम हुआ है। इस साधना के फल से एक समय उन्हें ऐसा अनुभव हुआ कि उनमें ऐसी आध्यात्मिक शक्ति संचित हो गयी है, जिसे वे दूसरों में संचारित कर सकते हैं। अतः परीक्षा करने के लिए शिवरात्रि के गहरे अन्धकार में जब वे ध्यान में बैठे, तो अभेदानन्द से कहा कि वे उनके (नरेन्द्र के) शरीर को स्पर्श किये हुए बैठें। ऐसा करने पर अभेदानन्द को लगा मानो कोई एक विद्युत-शक्ति उनमें प्रवेश कर रही है। उसके बाद से भक्त अभेदानन्द घोर वेदान्ती बन गये। पर जब श्रीरामकृष्ण ने उपर्युक्त घटना सुनी तो उन्होंने नरेन्द्र को सावधान कर दिया, जिससे भविष्य में और कभी इस प्रकार शक्ति का अपव्यय न हो अथवा दूसरे व्यक्ति में बलपूर्वक विजातीय भाव का संचार न किया जाय।

इस काल में नरेन्द्र के मन में निर्विकल्प समाधि की कामना बड़ी तीव्र हो उठी। मनोकामना को दबा रखने में असमर्थ हो उन्होंने श्रीरामकृष्ण के पास अपनी इच्छा निवेदित की। ठाकुर ने अश्वासन दिया कि उनका स्वास्थ्य सुधर जाने पर वे उसकी व्यवस्था कर देंगे। पर नरेन्द्र को विलम्ब असह्य था। लाचार हो ठाकुर बोले, "अच्छा बता, तू क्या चाहता है ?" नरेन्द्र ने कहा, "मेरी इच्छा होती है, शुकदेव के समान एकदम पाँच-छः दिन तक समाधि में डूबा रहूँ, बीच-बीच में केवल शरीर रक्षा के लिए थोड़ासा नीचे उतरकर फिर से समाधि में चला जाऊँ।" सुनते ही ठाकुर गम्भीर स्वर से तिरस्कार

करते हुए बोले, "छिः छिः, कहाँ तू इतना बड़ा आधार और कहाँ तेरे मुँह से यह बात ! मैं तो सोचता था कि तू एक विशाल वटवृक्ष की तरह होगा, जिसकी छाया में हजार-हजार लोग आश्रय लेंगे। वह तो दिखता नहीं, उलटे तू अपनी ही मुक्ति के पीछे पड़ा है !" ठाकुर का तिरस्कार सुनकर नरेन्द्र की आँखें छलछला आयीं। समझा कि ठाकुर का हृदय कितना महान् है। पर उनकी भी इच्छा अपूर्ण न रही। कुछ ही दिन बाद जब वे सन्ध्या समय ध्यान में बैठे थे, तो अचानक वे निर्विकल्प समाधि में पहुँच गये— शरीर स्थिर और निस्तब्ध हो गया। गोपाल दादा (अद्वैतानन्द) नरेन्द्र की यह जड़वत् अवस्था देख चौंक पड़े और हाँफते हुए ठाकुर के पास जाकर समाचार दिया, "नरेन्द्र मर गया !" चारों ओर कोलाहल मच गया। पर तत्ववेत्ता ठाकुर अविचल स्वर से बोले, "वह मजे में है— कुछ देर वैसे ही रहने दो। उसी के लिए तो मेरे प्राण खाये ले रहा था।" रात्रि में एक प्रहर बाद नरेन्द्र सहजावस्था में आये और ठाकुर के समीप गये। ठाकुर ने कहा, "क्यों, माँ ने तो आज तुझे सब दिखा दिया। पर हाँ, चाबी मेरे पास रहेगी। अब तुझे काम करना होगा। जब मेरा काम कर लेगा, तब ताला फिर से खोल दूँगा।" इस काल में नरेन्द्रनाथ का ध्यान बड़ा प्रगाढ़ और परिपक्व हो गया था। एक दिन गिरीश बाबू उनके साथ एक वृक्ष के नीचे ध्यान करने बैठे थे। मच्छरों के उपद्रव से गिरीशबाबू अपने चित्त को समेटने में असमर्थ हो रहे थे, पर उन्होंने विस्मय से देखा कि यद्यपि नरेन्द्र की देह को मच्छरों ने

ढक-सा लिया है तथापि वे शान्त बैठे हुए हैं। गिरीश ने नरेन्द्र को पुकारा भी, पर कोई उत्तर न मिला।

श्रीरामकृष्ण के तिरोधान के कुछ दिन पहले की बात है। उनकी शारीरिक पीड़ा को दूर करने का कोई उपाय न देख नरेन्द्र हताश होकर पागल के समान इधर-उधर भाग-दौड़ करने लगे। यहाँ तक कि, एक दिन सन्ध्या के बाद से ही वे गगन विदारक ध्वनि से 'राम-राम' कहते हुए बगीचे में सब ओर घूमने लगे और रात इसी प्रकार बिता दी। रात्रि के अन्तिम भाग में नरेन्द्र के कण्ठस्वर को सुनकर ठाकुर ने उन्हें अपने समीप बुलवाया और स्नेहार्द्र स्वर में बोले, "क्यों रे, तू यह क्या कर रहा है? उससे क्या होगा?" थोड़ा रुककर फिर बोले, "देख, तू अभी जैसा कर रहा है न, इसी प्रकार बारह वर्ष मेरे सिर पर से आँधी के समान निकल गये। बेटा, तू एक रात में भला क्या करेगा!"

लीला-संवरण के कुछ दिन पहले से ही ठाकुर नरेन्द्र को प्रतिदिन सन्ध्या के समय अपने समीप बुलाते और सबको बाहर जाने का आदेश दे कपाट बन्द करके दो-तीन घण्टे तक उन्हें तरह-तरह से उपदेश देते। तीन-चार दिन पूर्व जब नरेन्द्र इसी प्रकार उनके पास बैठे हुए थे, तो ठाकुर सहसा समाधि में मग्न हो गये। नरेन्द्र ने अनुभव किया मानो एक सूक्ष्म ज्योतिकिरण विद्युत्कम्पन की भाँति उनकी देह में संचरित हो रही है। धीरे-धीरे नरेन्द्र बाह्य संज्ञा खो बैठे। बाद में जब वे प्रकृतिस्थ हुए, तो देखा, श्रीरामकृष्ण भी समाधि से नीचे उतर आये हैं और उनकी आँखों से अश्रुधार बह रही है। नरेन्द्र के कारण पूछने पर उन्होंने उत्तर दिया,

"आज अपना सब कुछ तुझे देकर मैं फकीर हो गया! तू इस शक्ति से संसार के बहुत से काम कर सकेगा। काम खत्म होने पर तू लौट जायगा।" नरेन्द्र ने समझ लिया कि ठाकुर विदा ले रहे हैं। उनकी वाणी न फूटी, केवल कपोलों से धर-धर आँसुओं की धार बहने लगी। लीला - समाप्ति के दो दिन पूर्व श्रीरामकृष्ण ने फिर एक बार नरेन्द्र को पास बुलवाया और कहा, "देख, नरेन, मैं इन सबको तेरे हाथ सौंपे जाता हूँ; क्योंकि तू सबसे बुद्धिमान और शक्तिशाली है! इनको खूब प्यार करना; फिर से घर वापस न जाकर जिससे ये लोग एक स्थान में रहकर खूब साधन-भजन में लगे रहें इसकी व्यवस्था करना।" धीरे-धीरे विदा का अति विषादमय स्वर बजने को आ गया ऐसे समय हठात् नरेन्द्र के मन में संशय उठा, "अच्छा, ये तो कई बार अपने को भगवान् का अवतार कहते रहे हैं; यदि इस समय कह सकें कि 'मैं भगवान् हूँ' तभी विश्वास करूँगा।" मनुष्य का दुर्दमनीय सन्देह मानो आज नरेन्द्र के मन का सहारा लेकर अचानक मूर्त हो उठा, और त्योंही लीला से शरीरधारी मनुष्य के भगवान् इस भीषण रोग-यंत्रणा के बीच भी नरेन्द्र की ओर मुँह फेरकर बोल उठे, "अभी भी तुझे ज्ञान न हुआ? सत्य कहता हूँ, जो राम, जो कृष्ण, वही इस समय इस शरीर में रामकृष्ण—पर हाँ, तेरे वेदान्त की दृष्टि से नहीं।" अपराधी नरेन्द्र विस्मित हो चुपचाप पश्चात्ताप के आँसू बहाने लगे। इसके दो दिन बाद (१६ अगस्त, १८८६ ई०) झूलन-पूर्णिमा की रात को एक बजकर छः मिनट पर ठाकुर महासमाधि में लीन हो गये! ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

गीता का आकर्षण

श्रीमत्स्वमी रंगनाथानन्दजी

जब से कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि पर भगवद्गीता सर्व प्रथम गायी गयी थी, तब से स्त्री-पुरुषों के हृदयों को वह अपनी ओर आकर्षित करती रही है। एडविन अर्नाल्ड ने उसे 'दैवी गीत' (Song Celestial) कहा है। संसार के कई ग्रन्थों ने मानवमन पर अपनी छाप डाली है और कुछ ने तो गहरी और स्थायी रूप से। वे सब 'अमर साहित्य' की कोटि में आते हैं। पर ऐसे ग्रन्थों में गीता का स्थान अद्वितीय है; क्योंकि इसका जितना सार्वभौमिक आकर्षण है उतना अन्य किसी का भी नहीं। यदि कोई ग्रन्थ एक विद्वान् या चिन्तक को अच्छा लगता है, तो हो सकता है, वह साधारण जन के लिए रुचिकर न हो; यदि वह दोनों के मन के अनुकूल है, तो सम्भव है, कर्मव्यस्त मनुष्य को अपनी ओर न खींच सके। जो किसी के हृदय और भावनाओं को अनुप्राणित कर सकता है, सम्भव है वही दूसरे की बुद्धि और तर्क को न छू सके। किसी ग्रन्थ की अथवा अन्य किसी बात की सार्वभौमिकता की कसौटी यह है कि वह जाति या सम्प्रदाय की संकीर्णता से ऊपर उठकर कितनी विभिन्न प्रकार की मानसिकता को प्रभावित कर सकती है। गीता इस कसौटी पर खरी उतरती है। जो लोग गीता के आकर्षण से खिंचे हैं,

यदि हम उनका अध्ययन करें तो देखेंगे कि उनके अन्तर्गत विभिन्न प्रवृत्तियों, स्वभावों और मनोभावों के लोग हैं। एक ओर उच्च बौद्धिक वर्ग है, तो दूसरी ओर धर्मपरायण सरल श्रद्धालु नर और नारी हैं; एक ओर कर्मव्यस्त व्यावहारिक लोगों का दल है, तो दूसरी ओर विभिन्न जातियों और सम्प्रदायों के स्त्री-पुरुष भी हैं। प्राचीन भारत के व्यास, शंकर और दूसरे आचार्यों ने तथा अपने काल में स्वामी विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक, श्री अरविन्द और महात्मा गाँधी ने इस महान् ग्रन्थ की बौद्धिक ऊर्जा, भवनात्मक आकर्षण तथा आध्यात्मिक गहराई से अनुप्रेरणा प्राप्त की थी। अतीत के ही समान वह आज भी सभी वर्गों और पन्थों के हिन्दुओं को अपनी ओर खींच रही है। आज के युग में स्त्री-पुरुषों के हृदय में उसका साम्राज्य भारत की भौगोलिक सीमा को भी छोड़कर आगे बढ़ गया है। प्राचीन भारत के इस दैवी संगीत ने इमर्सन, कार्लाइल, वाल्ट व्हिटमैन और थोरो जैसे व्यक्तियों को सम्मोहित कर लिया है, तथा आधुनिक पश्चिम के साधारण स्त्री-पुरुषों का शतत बढ़ता हुआ दल इसकी मोहिनी की परिधि में आ रहा है।

ब्रिटिश भारत के सर्वप्रथम गवर्नर-जनरल वारेन हेस्टिंग्ज ने अठारहवीं सदी के आठवें दशक में अपने मित्र सर चार्ल्स विल्किन्स द्वारा किये गये गीता के प्रथम अँगरेजी अनुवाद की भूमिका लिखते हुए भविष्यवाणी की थी, "भारतीय दर्शनों के प्रणेता तब भी जीवित रहेंगे, जब भारत से ब्रिटिश साम्राज्य का सूर्य कब से अस्त हो चुका होगा और उसके ऐश्वर्य और प्रभुता के स्रोत स्मृति से लुप्त हो चुके होंगे।" ठीक

दो सप्ताह पूर्व उनके द्वारा भारत में स्थापित उस नाशवान् साम्राज्य का अन्त हुआ, जैसी कि उन्होंने कल्पना की थी। और दूसरी ओर, उन्होंने जब से वे उद्‌गार व्यक्त किये, तब से भारत के ऋषियों का साम्राज्य सतत बढ़ता ही जा रहा है। आधुनिक पश्चिम की सत्यप्रियता और बौद्धिक ऊर्जा ने आज के जगत् में इन विचारों के व्यापक प्रसारण में पर्याप्त योगदान किया है। इस दिशा में नवजागरित भारत की क्रियाशीलता का प्रारम्भ उस दिन से हुआ, जिस दिन १८९३ई०में शिकागो में भरी सर्वधर्मपरिषद् में स्वामी विवेकानन्द के प्रादुर्भाव की महान् ऐतिहासिक घटना घटी। तब से साम्राज्य आधुनिक जगत् के, जिसमें स्वयं वारेन हेस्टिंग्ज़ का इंगलैण्ड भी समाविष्ट है, अनेक हृदयों और बुद्धि पर आध्यात्मिक विजय प्राप्त करता जा रहा है। साम्राज्य के इस विस्तार के लिए सामने किसी फौज की आवश्यकता नहीं है, न ही पीछे कूटनीतिज्ञों के दल की; क्योंकि यह विस्तार 'धर्मचक्र' का विस्तार है, जो, अशोक के शिलालेखों के अनुसार; मानव को विभाजित करनेवाले युद्ध के नगाड़ों को शान्त करता है और मानव-एकता की तान को तरंगित करता है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, "विश्व की विचारधारा को भारत की जो देन रही है, वह उन ओस बिन्दुओं की नाईं है जो अनदेखे और बिना सुने गिरते हैं पर सुन्दरतम गुलाब के फूलों को खिला देते हैं।" यही यथार्थ भारत का चित्रण है, जिसका नैरन्तर्य और स्थैर्य उसका अपना है। अपने लम्बे इतिहास के प्रत्येक युग-परिवर्तन पर उसने अपने समसामयिक

संसार पर मोहिनी डाली है। वारेन हेस्टिंग्ज़ के उस साम्राज्य के शान्तिपूर्ण अन्त के साथ अब भारत को अपना स्वरूप प्रकट करने का अवसर प्राप्त हुआ है। अतीत के समान यह सुयोग अब सीमित नहीं है, प्रत्युत विज्ञान को धन्यवाद, वह विश्वव्यापी हो गया है !

वेदों और श्रीकृष्ण का भारत, बुद्ध और शंकर का भारत, अशोक और अकबर का भारत अब राजनैतिक दृष्टि से स्वतंत्र हो गया है। शताब्दियों की राजनैतिक स्थिरता के बाद उसे अपनी आत्मा मिली है, अपना स्वर मिला है। उसकी सन्तानों की ही भाँति उसके चारों ओर का संसार उसके कदमों के आगे बढ़ने में और उसके स्वर की अभिव्यक्ति में गहरी रुचि ले रहा है। इसमें संशय नहीं कि इस घड़ी हमारी आशाएँ भय से मिली हुई हैं। क्या वह अपने नव-स्वातंत्र्य और शक्ति के मद में उस पथ पर भटक जायगा, जिसे नीत्शे ने प्रशंसात्मक स्वर से 'कर्तव्य और आचरण की हिंसा' कहा है; और अपने शक्ति सम्पन्न कदमों से पहले से ही क्षुब्ध विश्व को और भी क्षुब्ध करेगा ? क्या उसका नव-प्राप्त स्वर अपने चहुँ ओर के कलहयुक्त संसार की सांक्रामिकता में आकर मनुष्य और उसकी सभ्यता के लिये आशा और उत्साह का रव छोड़ देगा ? क्या वह मानव और प्रकृति की गम्भीरतम सत्ता का साक्षी रहकर, अन्धकार में ढके पर प्रकाश की खोज में व्याकुल इस विश्व के लिए प्रकाशस्तम्भ न बना रहेगा ? विश्व-इतिहास के इस नव प्रकट होने वाले युग में क्या वह शान्ति और मैत्री,

त्याग और सेवा के अपने ऐतिहासिक सन्देश के प्रति सच्चा न रहेगा ? संक्षेप में, क्या स्वतंत्र भारत अपनी सच्ची आत्मा और स्वभाव का आविष्कार करके साहस के साथ मानव-एकता और संगठन की उस तान को न छेड़ेगा, जो आधुनिक जगत् के लक्ष-लक्ष लोगों के हृदय और कान पर छायी हुई है ?

इन प्रश्नों का उत्तर आनेवाले कतिपय दशकों में प्राप्त होगा। पर यदि हम भारत के अतीत पर विश्वास को उसकी भावी गति की कल्पना करने के लिए संकेत स्वरूप मान लें, तो हम निश्चय पूर्वक यह पहले से ही घोषणा कर सकते हैं कि भारत उन आशाओं को पूरा करेगा, जिनकी अपेक्षा विश्व उससे रखता है। इस स्थिति में अतीत का पुष्टीकरण श्रीराम-कृष्ण, स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गाँधी की गतिशील राष्ट्रीय अनुभूति के माध्यम से वर्तमान के द्वारा होगा। इन आध्यात्मिक दिग्गजों की भावधारा और उनका प्रभाव ऐसी शक्तियाँ हैं जो दृढ़ पर मौन रूप से राष्ट्रीय मानस को उसके आध्यात्मिक उत्तराधिकार के अनुरूप सार्वभौम एवं मानवी दृष्टिकोण के परिप्रेक्ष्य में, उचित मोड़ दे रही हैं तथा भारत को आज के सन्दर्भ में अपने ऐतिहासिक विश्व मिशन के आविष्कार और उसके अनुवर्तन में सहायता प्रदान कर रही हैं। और इस महान् राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व के निर्वाह में मार्गदर्शन के लिए प्रकाश की खोज करते हुए भारत ने अपने प्राचीन वेदान्त का एक नये अर्थ के साथ आविष्कार किया है और उसकी उत्तम टीका गीता को एक नयी अन्तर्दृष्टि से समझा है। यह जो अपने राष्ट्रीय दर्शन

के अर्थ और उसकी व्यापकता को नये ढंग से समझना है, उनमें एक नयी अन्तर्दृष्टि डालनी है, वह हमारे इतिहास के इस नवीन युगारम्भ को स्वामी विवेकानन्द की आध्यात्मिक वसीयत है।

यह एक शुभ शकुन है कि गीता में सन्निबद्ध वेदान्त आज भारत के चिन्तनशील मानस को गहन रूप से आकर्षित कर रहा है। दूसरे देश के दर्शनों और यहाँ की अन्य विचार-प्रणालियों के विपरीत, वेदान्त एक जीवन्त, प्राणमय दर्शन है। स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार, उसने भारत को अतीत में दो बार आध्यात्मिक मृत्यु से बचाया है। भारत के मस्तिष्क और हृदय पर सदैव इस दर्शन की छाप रही है। पर हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि उसके विशाल राज-निकाय पर, विशेषकर अभी बीती सदियों में, ऐसी कुछ छापें रही हैं जो कुछ उत्साहवर्धक नहीं रही हैं और न उसके वैदान्तिक मस्तिष्क और हृदय के अनुरूप ही रही हैं। वर्तमान युग भारत में एक ऐसे राज-निकाय के सुस्थिर प्रादुर्भाव को देखनेवाला है जो मानव-गरिमा, समानता और एकता के वैदान्तिक आदर्शों पर आधारित रहेगा। इससे भारत की वसुन्धरा पर पहली बार क्रमशः एक पूर्ण वैदान्तिक सभ्यता का विकास होगा। इस लक्ष्य की प्राप्ति बहुलांश में गीता की आध्यात्मिकता और सामाजिक नीतियों से प्राप्त अनुप्रेरणा से होगी। गीता की यह व्यावहारिता ही उसके महान् शिक्षक का अभिप्राय था, जो बीते युगों में यहाँ के लोगों द्वारा उपेक्षित और विस्मृत कर दिया गया था। इस

वेदान्त के मूलभूत सिद्धान्तों को समझने से हमें जीवन और उसकी समस्याओं से जूझने का दृष्टिकोण प्राप्त होता है। यह दृष्टिकोण भगवान् श्रीकृष्ण की गीता के मानसिक वातावरण को ग्रहण करने में हमें सक्षम बनाता है और साथ ही श्रीराम-कृष्ण, स्वामी विवेकानन्द तथा महात्मा गाँधी के उस भारत की मनोवृत्ति को समझने में सहायता प्रदान करता है, जो भविष्य का भारत है।*

* (१० फरवरी, १९५० को आकाशवाणी दिल्ली पर दिया गया भाषण।)

मेरी बात पर विश्वास कीजिए। दूसरे देशों में धर्म की केवल चर्चा ही होती है, पर ऐसे धार्मिक पुरुष, जिन्होंने धर्म को अपने जीवन में परिणत किया है, जो स्वयं साधक हैं, केवल भारत में ही हैं।

—स्वामी विवेकानन्द

समस्त संसार हमारी मातृभूमि का महान् ऋणी है। किसी भी देश को ले लीजिए, इस जगत् में एक भी जाति ऐसी नहीं है, जिसका संसार उतना ऋणी हो, जितना कि वह यहाँ के धैर्यशील और विनम्र हिन्दुओं का है।

—स्वामी विवेकानन्द

शंकर मत

ले०—रायसाहब हीरालाल वर्मा, रिटायर्ड डिपुटी कमिश्नर

श्री शंकराचार्य जी की फिलासफी का मूल सिद्धान्त है, "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः" अर्थात् (१) जिस ब्रह्म का उपनिषदों में वर्णन किया है, वही एकमात्र सत्य है। (२) नानारूपात्मक जगत् मिथ्या है और (३) जीव और वह ब्रह्म एक ही हैं, जिसकी परिभाषा श्रुतियों में सत्-चित्-आनन्द से की जाती है। देखिये—तैत्ति० उ० २।१ में कहा है कि ब्रह्म "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" है और बृह० उ० ३।६।२८ में उसे "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" बतलाया है और जीव और ब्रह्म के एक होने का प्रमाण छा० उ० ६।८।७ में है जहाँ कहा है, "स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" अर्थात् "वह आत्मा है और वही तू है, हे श्वेतकेतो।" बृ० उ० १।४।१० में भी कहा है "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति। तस्मात्तत्सर्वम् भवत्।" अर्थात् सृष्टि के पहिले एकमात्र ब्रह्म ही था। उसने अपने आपको "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा जाना। इसी से वह सर्व हो गया।

ब्रह्म की सत्यता तो निर्विवाद है, लेकिन कहीं कहा है कि जीव ब्रह्म का अंश है और कहीं उसे ब्रह्म से पृथक् भी माना है। अभी तो यह विचार करना है कि क्या वस्तुतः जगत् मायिक है?

शंकराचार्य का कहना है कि जगत् मिथ्या है क्योंकि

ब्रह्म के असली स्वरूप का ज्ञान होने पर जगत् का भान उसी प्रकार लुप्त हो जाता है जैसे रस्सी पर सर्प का भ्रम रस्सी के ज्ञान होने पर जाता रहता है। यह जगत् का भ्रम अविद्या के कारण होता है। इसी अविद्या से द्वैत की भावना उत्पन्न होती है जिससे ब्रह्म पर नानारूपात्मक जगत् का अध्यास होता है। इसी अविद्या के कारण जीवात्मा पर शरीर और इन्द्रियों का अध्यारोप होता है, जिसकी वजह से जीवात्मा समझने लगता है कि वह कर्ता और भोक्ता है। और ऐसी अवस्था में वह सुख-दुःख और आवागमन के चक्कर में फँस जाता है। इसी अविद्या को माया भी कहते हैं, जो न सत् है, न असत्। उसका रहस्य समझना बुद्धि के परे है और चूँकि उसके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता, वह अनिवर्चनीय है। चूँकि माया सत् नहीं है, उसका ब्रह्म के साथ वास्तविक सम्बन्ध हो नहीं सकता। केवल सम्बन्ध-सा होता दिखता है। जिस प्रकार रस्सी पर सर्प का भ्रम होने पर, रस्सी पर उसका कुछ असर नहीं होता, उसी तरह ब्रह्म पर माया का अध्यास होने से ब्रह्म अछूता रहता है। इसलिये केवल ब्रह्म की सत्यता समझ लेने से माया की निवृत्ति होकर मोक्ष मिल जाता है। देखिये श्वे० उ० ३।८ में कहा है,

" वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसःप रस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥"

अर्थात् मैं उस परमात्मा को जानता हूँ जो महान् है, सूर्य की तरह प्रकाशमान् है, और अज्ञान से परे है। उसको ही जानकर अतिमृत्यु को तैरा जा सकता है। मोक्ष के लिए

दूसरा रास्ता नहीं।

तप, उपासना और दान इत्यादि से चित्त की शुद्धि होती है, जिससे सत् वस्तु समझी जा सकती है, लेकिन सत् के साक्षात्कार होने पर फिर मनुष्य को मोक्ष पाने के लिए और कुछ करना बाकी नहीं रहता। इसीलिए ब्रह्म-सूत्रों का अध्ययन करना चाहिये, जिससे ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान हो।

शंकराचार्य के उस सिद्धान्त को, जिसमें जगत् को मायिक माना जाता है, "मायावाद" अथवा "अनिवर्चनीय ख्यातिवाद" कहते हैं। कोई-कोई उसे 'विवर्तवाद' भी कहते हैं, क्योंकि दृष्य जगत् ब्रह्म का विवर्त समझा जाता है। रामानुजाचार्य के सिद्धान्त में ब्रह्म में रूपान्तर होकर ही जगत् उपजता है। इसलिए इस सिद्धान्त को 'परिणामवाद' कहते हैं। शंकर के अनुसार ब्रह्म में किसी प्रकार का वास्तविक परिवर्तन नहीं होता। इस मायावाद के विरुद्ध जो दलीलें बहुधा पेश की जाती हैं, वे इस प्रकार हैं:—

१. कर्ता और कार्य जो एक दूसरे के विरोधी हैं, और जिनके कारण 'मैं' और 'तू' की कल्पना होती है और जिनके गुण भी एक समान नहीं हैं, उनकी सरूपता नहीं हो सकती। अतएव, कार्य का कारण पर, जो सत्-चित् है, अथवा कर्ता का कार्य पर अध्यास नहीं हो सकता।

२. यदि कहो कि जगत् का ब्रह्म पर अध्यास होता है, जैसा रस्सी पर सर्प का, तो रस्सी तो इन्द्रियगम्य है जो ब्रह्म नहीं है, और यदि कहो कि ब्रह्म का जगत् पर अध्यास होता

है तो जगत् सत्य हो जाता है। फिर ब्रह्म तो अदृश्य है और शरीर के भीतर रहता है। वह रस्सी के समान द्रष्टा के सम्मुख नहीं हो सकता। इसलिये उसपर बाहरी जगत् का अध्यास नहीं हो सकता।

३. इसी तरह ब्रह्म, कारण और कार्य दोनों एक ही क्षण में नहीं हो सकता, क्योंकि पहले कर्ता होता है और फिर उसका कार्य होता है और ये दोनों एक दूसरे से भिन्न होते हैं। यदि कहो कि ब्रह्म का ज्ञान स्वयं नहीं होता बल्कि किसी विधि से होता है, इसलिये ब्रह्म को उस विधि का कार्य मानना चाहिए, तो ब्रह्म स्वयं प्रकाशमान न रहेगा और परिमित हो जायगा जो श्रुति को मान्य न होगा।

४. इसके अतिरिक्त, प्रत्येक प्रकार के अध्यास में जिस वस्तु का अध्यास होता है (जैसे- सर्पका रज्जु पर) उसका पूर्वज्ञान रहता है, अर्थात् यदि सच्चे सर्प का ज्ञान पहिले से न हो तो रस्सी पर अँधेरे में उसकी भ्रांति न हो। इसी तरह ब्रह्म पर जगत् का अध्यास होने के लिये पहिले सच्चे जगत् की स्मृति होनी चाहिये, और यदि जगत् सत्य है तो ब्रह्म का ज्ञान होने पर जगत् बना रहेगा और मोक्ष सम्भव न होगा।

इनके उत्तर में श्री शंकराचार्य जी कहते हैं कि धर्म और धर्मी अत्यन्त भिन्न होने पर भी, उनका परस्पर भेद न समझकर, अज्ञान के कारण, स्वाभाविक तौर पर, मनुष्य एक दूसरे में, एक दूसरे के स्वरूप का (तथा धर्मों का) अध्यास कर, सत्य और असत्य को मिलाकर 'यह मैं' और 'यह मेरा' इस प्रकार का लोक-व्यवहार किया करता है।

यदि ऐसी शंका की जाय कि प्रत्यगात्मा तो अविषयरूप है, उस पर विषयों तथा उनके धर्मों का अध्यास कैसे होगा ? तो उसका उत्तर यह है कि प्रत्यगात्मा कभी भी विषय न हो, यह बात नहीं है। वह 'मैं' इस ज्ञान का विषय है क्योंकि वह अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) रूप से प्रसिद्ध है। और ऐसा भी नहीं है कि जीवात्मा अपनी समझ के बाहर है, क्योंकि आत्मा अविषय रूप और निरवयव होने पर भी अज्ञान के कारण उस पर मन, शरीर, इन्द्रिय इत्यादि धर्मों का अध्यास होता है, जिनके कारण वह आत्मा ऐसा बर्ताव करता है, जैसे कि वह कर्ता, भोक्ता, विकारी और अनेक हो, जबकि वह वस्तुतः ऐसा नहीं है। इस तरह वह विषय हो जाता है। यथार्थ आत्मा तो ज्ञान का विषय कभी नहीं हो सकता। आत्मज्ञान तो वैसे ही आत्मा का हो सकता है जो उपाधियों से संयुक्त हो।

लेकिन इस प्रकार की बहस तो वृत्ताकार होगी। अर्थात् अध्यास को सिद्ध करने के लिये आपने यह मान लिया कि आत्मा विषय है, और आत्मा विषय तभी हो सकता है जब उस पर उपाधियों का अध्यास हो। शंकराचार्य कहते हैं कि यह प्रसंग ऐसा है जैसे बीज और वृक्ष की समस्या। यानी, बीज से झाड़ होता है और झाड़ से बीज। इसी तरह आत्मा और अध्यास का अनादि काल से क्रम बँध जाता है। अर्थात् पिछले जन्म में जो आत्मा पर शरीर आदि का अध्यास होता है, उसके कारण इस जन्म में आत्मा विषय हो जाता है, जिसकी वजह से उस पर अध्यास प्रतीत होता

है इत्यादि। शुद्ध आत्मा पर यानी उपाधिरहित आत्मा पर अध्यास नहीं हो सकता। उपाधियों के कारण ही आत्मा एक ही समय पर कर्ता और क्रिया का विषय हो जाता है। और यह भी कोई नियम नहीं है कि सम्मुख रही हुई वस्तु पर ही अन्य वस्तु का अध्यास होना चाहिये। आकाश के अप्रत्यक्ष होते हुए भी अज्ञानी उसमें तल (पेंदा) तथा नीलापन का आरोप करते हैं।

यह भी आवश्यक नहीं कि जिस वस्तु का अध्यास हो उसका पिछला यथार्थ ज्ञान हो। ज्ञान भर होना काफी है, चाहे वह ज्ञान यथार्थ हो अथवा मायिक। आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान तो हमें रहता ही है। कठ० उ० २।२।१५ में कहा है कि "आत्मा के प्रकाश से ही यह सब प्रकाशमान है"। और अनात्म वस्तुओं का ज्ञान भी उसी आत्मा के द्वारा होता है। इस आत्मा और अनात्मा का एक दूसरे में अविद्या नामक जो अध्यास होता है, उसी को लेकर प्रमाण प्रमेय आदि लौकिक व्यवहार होता है। इसी को लेकर वेद की प्रवृत्ति होती है, तथा विधि-निषेध एवं मोक्ष का प्रतिपादन करनेवाले सब शास्त्रों की प्रवृत्ति होती है। इस तरह अध्यास का होना एक प्रमाणित तथ्य है।

शंका— परन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा तो नानात्मक जगत् सत्य प्रतीत होता है। श्रुतियों के वाक्य इस प्रत्यक्ष अनुभव के विरुद्ध कैसे ठीक समझे जायें?

समाधानः— बात यह है कि श्रुतियाँ अव्यक्तिगत (Impersonal), नित्य, स्वयं प्रकाश इत्यादि होती है।

उनकी वैधता (Validity) स्पष्ट और अचूक होती है, और वे ज्ञान के स्वतंत्र स्रोत हैं। इसलिए उन्हें प्रामाणिक मानते हैं। बात यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाण वहाँ लागू होता है जहाँ ज्ञान इन्द्रियों द्वारा होता है, पर जहाँ बोध आँख द्वारा नहीं होता है, वहाँ ज्ञान के लिये श्रुति ही परम प्रमाण मानी जाती है। देखने की क्रिया से जो ज्ञान होता है वह अविद्यावान् पुरुष को होता है। देह और इन्द्रियों में अहंता और ममता का भाव न होने से प्रमाता ही नहीं बन सकता, क्योंकि इनके बिना प्रमाण की प्रवृत्ति ही नहीं बनती; बिना इन्द्रियों के प्रत्यक्षादि प्रमाणों का व्यवहार नहीं होता; अधिष्ठान के बिना इन्द्रियों का व्यवहार नहीं बनता और देह में आत्मभाव का अध्यास किये बिना कोई भी व्यापार नहीं बनता। यदि ये सब न हों तो असंग आत्मा प्रमाता नहीं बन सकता और प्रमाता के बिना प्रमाण की प्रवृत्ति भी नहीं बन सकती। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि अविद्यावान् पुरुष के आश्रय ही प्रमाण होते हैं। अर्थात् आत्मज्ञान होने के पूर्व प्रवृत्त होनेवाला शास्त्र अविद्यावान् पुरुष के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी नहीं रह सकता।

ये ऊपर दी हुई युक्तियाँ शायद द्वैतवादियों को यथेष्ट न जचें, परन्तु विज्ञान की नवीन खोजों ने अब सिद्ध कर दिया है कि परमाणुओं की सत्ता नहीं है बल्कि एटमों के भीतर इलेक्ट्रोन, न्यूट्रोन वैद्युत् शक्ति के रूप में घूमते हैं। अर्थात् पदार्थों का जो बाहरी स्वरूप दृष्टिगोचर होता है वह मिथ्या है, और उनके भीतर जो शक्ति है वह ब्रह्म ही है, अथवा

उसका विवर्त है। इस तरह से नित्य और अनित्य वस्तुओं का ज्ञान होना ब्रह्मजिज्ञासा का पहिला साधन है। और दूसरा साधन है—लोक और परलोक के फलोपभोगों से परिपूर्ण वैराग्य होना। इन दो साधनों के पश्चात् शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान इन छहों की भलीभाँति प्राप्ति होना तीसरा साधन है और मुक्त होने की उत्कट इच्छा होना चौथा साधन है। इन साधनों के नाम हैं—विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षा। इन साधनों से सम्पन्न होने के बाद आत्मतत्त्व की जिज्ञासा करनेवाले अधिकारी को चाहिए कि वह ब्रह्मनिष्ठ, विद्वान् गुरु की शरण में जाकर उनसे महावाक्यों का उपदेश ले। ये वाक्य हैं—'तत् त्वमसि', 'सोऽहम्', 'अहं ब्रह्मास्मि' और 'अयमात्मा ब्रह्म'। इनका उपदेश देकर गुरु अधिकारी शिष्य को समझाता है कि तुम ही ब्रह्म हो। महावाक्यों का इस प्रकार श्रवण करके उनके वाक्यार्थ का मनन और निदिध्यासन करने से अपरोक्ष ज्ञान का उदय होता है, जिससे आनन्द की अवस्था उत्पन्न होकर मुमुक्षु जीवन मुक्त हो जाता है।

आचार्य के मत का यही सार है।

वासना का चिन्ह मात्र भी रह जाने पर भगवान् प्राप्त नहीं होते। धागे में यदि जरा भी गाँठ पड़ी हो, तो सूई के छेद में नहीं डाला जा सकता। मन जब वासना-रहित होकर शुद्ध हो जाता है, तभी सच्चिदानन्द का लाभ होता है। —भगवान् श्रीरामकृष्ण

दिव्य पुरुष ईसा

श्री रामेश्वर नन्द

संसार में जब कभी भी धर्म की हानि हुई, जब कभी भी परमेश्वर की संतान अपने परम पिता को भूल सी गई; जब भी लोग प्रकाश से अंधकार में भटकने लगे, तब-तब कभी धर्म की पुनःस्थापना करने, कभी अधर्म का विनाश करने, तो कभी अनभिज्ञ लोगों का मार्गदर्शन करने के लिए, उस जगत्-नियन्ता के मन में करुणा जाग उठी, स्नेह जाग उठा। संसार में विभ्रमित अपनी संतान को पुनः सन्मार्ग और सत्य के पथ पर लाने के लिये ऐसे प्रत्येक अवसर पर उस सृष्टिकर्त्ता तथा सर्वशक्तिमान ने अपनी अनश्वरता से नश्वरता को स्वीकार किया। असीम ने अपने को ससीम बना लिया। निराकार, स्वयं आकार की सीमाओं में बँध गया।

ईश्वर की यह कृपा किसी देश या जाति-विशेष तक कभी भी सीमित न रही। सीमाएँ एवं जाति-भेद तो मानवकृत हैं। उसकी दृष्टि में सभी उसकी ही संतान हैं। सब पर उसका समान स्नेह है।

ऐसा ही एक समय था आज से दो हजार वर्ष पूर्व, जब पेलेस्टाइन में एक महापुरुष ने जन्म लिया। इनके जन्म को लेकर कई चमत्कारिक घटनाएँ और कथाएँ प्रसिद्ध हैं, पर हमें उन विस्तारों में न जाकर, यहाँ उनके जीवन और शिक्षा पर ही विशेष प्रकाश डालना है। इस बार परमेश्वर ने

अपने को एक पवित्र कुमारी के गर्भ से प्रकट किया था। इस बालक के जन्म को लेकर बहुत पहले ही कई भविष्य वक्ताओं द्वारा भविष्यवाणी की जा चुकी थी, जिनमें भविष्य-वक्ता याशायाह् का कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

यह उन दिनों की बात है जब रोम का सम्राट आगस्टस था। ईसा के जन्म के साथ ही दूर-दूर से कुछ महात्मा उनके दर्शनार्थ आने लगे। इस बात का पता जब तत्कालीन शासक, हेरोदस को लगा तो वह बड़ा ही चिन्तित हुआ क्योंकि उन दर्शनार्थ आनेवाले भक्त पुरुषों ने यह कहा था कि यहूदियों के राजा का जन्म हुआ है। किसी नए राजा के जन्म का समाचार पाकर, हेरोदस भी ठीक उसी प्रकार चिन्तित हुआ, जिस प्रकार श्रीकृष्ण के जन्म से कंस हुआ था। राजा हेरोदस ने इस विपत्ति को टालने के लिए तत्कालीन दो वर्ष या उससे कम आयु के सारे बच्चों को मरवा डाला।

किन्तु दैवी इच्छा तो कुछ और ही थी। ईश्वर की कृपा से यह बालक, उन समस्त कठिनाइयों से जो उसके अहित में आती गईं, किसी न किसी प्रकार बचता ही गया।

किसी भी महापुरुष के जीवन में उनके परिवार या पारिवारिक धर्म तथा वातावरण का गहन प्रभाव पड़ता है। ईसा के माता और पिता दोनों बड़े धर्मनिष्ठ थे। पिता जोसेफ अत्यन्त दयालु स्वभाव के थे। कदाचित् यही कारण है कि ईसा के जीवन में ईश्वर के प्रति पितृभाव की साधना प्रस्फुटित हुई।

उनके बाल्यकाल से लेकर ३० वर्ष की आयु पर्यन्त का

विशेष विवरण कहीं भी ऐतिहासिक दृष्टि से उपलब्ध नहीं है। जो कुछ भी थोड़ा सा उपलब्ध है, वह केवल उनके उपदेशों के संग्राहकों की पुस्तक नया-नियम में। उनकी शिक्षा कहाँ हुई, अपने शैशव से यौवन काल तक वे कहाँ रहे, किस स्थिति में रहे, यह सब अज्ञात है। केवल उनके बारह वर्ष की आयु की एक घटना का विवरण संत लूका ने अपनी पुस्तक में किया है। यह घटना छोटी होती हुई भी ईसा के दिव्य व्यक्तित्व पर यथेष्ट प्रकाश डालती है।

एक दिन की घटना है, जब उनके माता-पिता प्रतिवर्ष की भाँति, फसह (Pass over) का पर्व मनाकर १२ वर्षीय ईसा को साथ लेकर, यरूशलेम से वापस लौट रहे थे; तब बहुत दूर निकल जाने पर देखा कि उनका पुत्र साथ न था। माता-पिता बड़े चिंतित हुए। उन दिनों यातायात के आधुनिक साधन तो थे नहीं, अतः वे पैदल ही पुनः यरूशलेम की ओर लौट पड़े। तीसरे दिन जब वे अपनी चिंतापूर्ण लंबी यात्रा से उस मन्दिर में पहुँचे जहाँ उन्होंने पर्व मनाया था, तो अपने पुत्र को विद्वान् उपदेशकों और शास्त्रियों से चर्चा एवं प्रश्नोत्तर करते देखकर चकित रह गये। स्नेह से झिड़कते हुए माता मरियम ने कहा—

"हे पुत्र, तूने हमसे क्यों ऐसा व्यवहार किया? देख, तेरा पिता और मैं कुढ़ते हुए तुझे ढूँढ़ते थे।"

तब उस बारह वर्षीय बालक ने जो उत्तर दिया, वह स्पष्टतः प्रमाणित करता है कि उनका पुत्र कोई साधारण संसारी न था। उसका जन्म अवश्य ही किसी महत् कार्य के

संपादनार्थ हुआ था। उस बालक ने उत्तर दिया—

"तुम मुझे क्यों ढूँढ़ते थे ? क्या नहीं जानते थे कि मुझे अपने पिता के भवन में होना अवश्य है ?"

(लूका २ : ४८–४९)

किन्तु छोटे मुँह की बात समझकर उस समय किसी ने भी उनकी बातों पर विशेष ध्यान न दिया, यद्यपि उस बालक ने स्पष्ट बता दिया था कि उसका पिता जोसेफ नहीं, कोई और था— अर्थात् वह जो मन्दिरों में, मस्जिद या गिर्जे में था ! जिसकी अर्चना में सारे लोग व्यस्त थे।

इस घटना के पश्चात् ईसा का ३० वर्ष तक की आयु का समय कहाँ और किस प्रकार बीता, यह सर्वथा अज्ञात है। संभव है यह अज्ञात काल उनकी साधना या तपस्या का काल रहा हो। हो सकता है, इस समय ईसा ने अज्ञात परिव्राजक का जीवन बिताकर, विभिन्न स्थानों से शिक्षा ग्रहण की हो। कुछ विद्वानों का ऐसा भी मत है कि ईसा भारत भी आए थे। इस बात का उल्लेख श्री लक्ष्मी नारायण साहू ने अपनी पुस्तक 'उड़ीसा' में भी किया है। इस्लाम मत के अनुसार तो ईसा की मृत्यु, सूली में न होकर, स्वाभाविक ढंग से काश्मीर में हुई थी। जो भी हो, इतना तो निश्चित है कि इतने बड़े महापुरुष का जीवन अकारण ही अंधकार में नहीं खो गया है। जिस दिव्यात्मा के उपदेशों को आज संसार के इतने लोग मानते हैं, उसने अपने जीवन के बहुमूल्य दिनों को यों ही न गँवाया होगा। पर इस विषय में कोई स्पष्ट मत

न होने के कारण अभी तक उनके जीवन का यह भाग विवादास्पद ही है।

अब इन अट्ठारह वर्षों के लंबे अज्ञात काल के पश्चात् ईसा से हमारी भेंट तब होती है, जब वे यूहन्ना से बपतिस्मा लेने आते हैं। यद्यपि स्वयं यूहन्ना भी एक बड़े सिद्ध पुरुष थे किन्तु ईसा को देखकर वे भी अत्यन्त नम्रता से कहते हैं—"मुझे तेरे हाथ से बपतिस्मा लेने की आवश्यकता है, और तू मेरे पास आया है!" [मत्ती ३: १४] यह बपतिस्मा लेने की क्रिया ठीक हिन्दूधर्म की दीक्षा लेने की क्रिया जैसी है। किन्तु ईसा ने अत्यन्त नम्रता पूर्वक उत्तर दिया, "कि अब तो ऐसा ही होने दें।" इसी प्रकार यहाँ उल्लेखनीय है कि यद्यपि भगवान् श्रीरामकृष्ण स्वयं अवतार थे, किन्तु उन्होंने भी तोतापुरी से दीक्षा ली थी। दीक्षा लेने का अर्थ जिस प्रकार हिन्दू धर्म में मानसिक और आत्मिक शुद्धि की ओर बढ़ने के लिये गुरु कृपा प्राप्त करना है, ठीक उसी प्रकार ईसाई धर्म में भी उसका अर्थ आध्यात्मिक पुनर्जन्म के समकक्ष है। बपतिस्मा देनेवाले संत यूहन्ना को यह बहुत पहले से ज्ञात हो गया था कि संसार को नयामार्ग दिखाने वाला और मुक्ति की नई शिक्षा देनेवाला पृथ्वी पर आ चुका है। इसीलिये वह संत स्वयं ही घोषणा करता घूम रहा था और "यह प्रचार करता फिरता था कि मेरे बाद जो आने वाला है, जो मुझसे शक्तिमान है; मैं इस योग्य नहीं कि झुककर उसके जूतों का बन्द खोलूँ। मैंने तुम्हें पानी से बपतिस्मा दिया है, पर वह तुम्हें पवित्र आत्मा से बपतिस्मा देगा।" [मरकुस १: ७-८]

बपतिस्मा प्राप्त करने के पश्चात् ईसा ने लगातार चालीस दिन और चालीस रात तक उपवास किया। उपवास का अर्थ यहाँ केवल भोजन से वंचित रह जाना नहीं है, किन्तु उपासना से भी है। इन चालीस दिनों की कठिन उपासना और भारतीय शब्दों में 'दीक्षा' के पश्चात् ईसा की आध्यात्मिक शक्ति और भी अधिक दृढ़ तथा उज्ज्वल हो गई। इसी बीच शैतान ने उनकी विभिन्न प्रकार से परीक्षा ली, संसार की प्रत्येक प्रलोभक वस्तु का लालच प्रस्तुत किया; किन्तु जिस प्रकार भगवान् बुद्ध "मार" की कठिन परीक्षा और प्रलोभन से नहीं डिगे, ठीक उसी प्रकार ईसा भी अपने आदर्शों से च्युत नहीं किये जा सके। इस कठिन परीक्षा से यह सिद्ध हो जाता है कि उन्होंने शैतान (माया) पर पूर्णतः विजय प्राप्त कर लिया था। दूसरे शब्दों में, शैतान द्वारा प्रस्तावित वे सारी चीजें साधक को उसकी उच्चतम साधना से विचलित कर देने वाली सिद्धियाँ ही थीं। अन्त में निराश होकर शैतान ने ईसा को सारे संसार का समस्त सुख दिखाते हुए कहा—"यदि तू मुझे प्रणाम करे तो यह सब तेरा हो जाएगा।" यीशु ने उसे उत्तर दिया—"लिखा है कि तू प्रभु अपने परमेश्वर को प्रणाम कर, और केवल उसीकी उपासना कर।" [लूका ४: ७-८]

ईसा की अब पूर्ण परीक्षा हो चुकी थी। शैतान, ईसा की एकनिष्ठ और अचल भक्ति देखकर, सर्वथा परास्त हो चुका था। और यह शैतान है कौन ? संसार के भयानक दलदल में फँसाने और लुभाने वाली प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक विचार

और प्रत्येक कार्य मानों अप्रत्यक्ष रूप से शैतान है। हिन्दू दर्शन की 'माया' जरथुस्त्र का 'अहिर्मन', बुद्धदेव का 'मार' और ईसाई-धर्म और इस्लाम में वर्णित एवं बहु चर्चित 'शैतान' एक ही हैं। ये मनुष्य को प्रति क्षण ज्ञात या अज्ञात रूप से अपने मोह पाश में फँसा लेने को अष्टपद की भाँति सतत प्रयत्नशील रहते हैं। इन पर विजय पाने वाला ही पुरुषार्थी है—वही परमेश्वर तक पहुँच पाता है। ऐसे ही एकनिष्ठ भक्ति-संपन्न और पुरुषार्थ से परिपूर्ण थे ईसा भी। अत्यन्त दरिद्र परिवार में उनका जन्म हुआ था। शैशव से ही भीषण कठिनाइयों में उनका जीवन बीता। फिर भी अपने दृढ़ चरित्र और विश्वास के कारण ही, वे शैतान के समस्त मायावी प्रलोभनों से न डिगे—अटल और दृढ़ बने रहे। ईसा के उपदेशों से उनका जीवन कहीं अधिक प्रेरक है।

बपतिस्मा, उपासना और शैतान की परीक्षा के उपरान्त अव हमारे सामने ईसा का एक सर्वथा नया रूप आता है। साधक ईसा अब मंत्रद्रष्टा ऋषि बन गये हैं। अब वे हमारे सामने आते हैं गुरु बनकर, पथ-प्रदर्शक बनकर, और ईश्वर का पुत्र बनकर ! उनका सारा जीवन अब केवल गरीबों, रोगियों और दुखियों की सेवा में बीत जाता है। तीस वर्ष से लेकर तैंतीस वर्ष तक तीन वर्ष उन्होंने उपदेश, सेवा शिष्य-निर्माण, नये मार्ग का प्रवर्तन, प्राचीन परंपराओं के विरुद्ध सुधार, आदि अनेकानेक कार्य किये। किन्तु कभी अपने लिये कुछ न किया, अपनी चिंता कभी न की। न उनके रहने का ठिकाना था, न सोने का। आज यहाँ तो कल वहाँ।

वे सदा सेवा-रत रहते थे। उनके इस जीवन से प्रभावित होकर एक शास्त्री ने कहा था—"हे गुरु, जहाँ कहीं तू जाएगा, मैं तेरे पीछे हो लूँगा।" यीशु ने उत्तर दिया—"लोमड़ियों के मट और आकाश के पक्षियों के बसेरे होते हैं, परन्तु मनुष्य के पुत्र के लिये कहीं सिर धरने की भी जगह नहीं है।"

(मत्ती ८ : १९-२०)

ईसा के जीवन की दूसरी विशेषता है उनकी उपदेश-प्रणाली। उन्होंने कोई संस्थात्मक शिक्षा नहीं दी। उनकी शिक्षा, नदी के किनारे, पहाड़ पर, मैदान में, मन्दिर में या जहाँ कहीं भी जिज्ञासु या भक्त मिल जाता, वहीं होती। अन्य बड़ी विशेषता थी, ईसा की करुणा। वे भगवान् बुद्ध की भाँति दयालु थे। समाज के सारे उपेक्षित वर्ग, अपमानित, कलंकित और दलित लोग सब उनके लिये समान थे। संसार-सागर में पाप-ताप के बोझ से डूबते लोगों को देखकर उनका हृदय भर जाता था। उन्होंने ऐसे ही लोगों को आश्वासन देते हुए कहा था—"ऐ सब परिश्रम करने वालों और बोझ से दबे हुए लोगों, मेरे पास आओ, मैं तुम्हें विश्राम दूँगा। मेरा जूआ अपने ऊपर उठा लो और मुझसे सीखो; क्योंकि मैं नम्र और मन में दीन हूँ : और तुम अपने मन में विश्राम पाओगे। क्योंकि मेरा जूआ सहज और मेरा बोझ हल्का है।" (मत्ती ११ : २८-३०)

ईसा के इन शब्दों में हम उनके व्यक्तित्व का सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। संसार में बोझ से दबे लोगों के प्रति कितनी दया थी उनमें। पर कितने नम्र थे वे! 'मैं नम्र

और दीन हूँ।' ठीक यही शब्द स्वामी विवेकानन्द ने भी कहा था—"मैं कोई दार्शनिक नहीं हूँ, तत्त्वज्ञानी नहीं हूँ। मैं हूँ गरीब; गरीबों को प्यार करता हूँ।"

किन्तु जहाँ वे एक ओर संसार के ऐसे थके-हारे लोगों को विश्राम देने की बात करते हैं, वहीं स्पष्ट रूप से यह भी कहते हैं कि "मेरा जूआ अपने ऊपर उठा लो। क्योंकि मेरा जूआ सहज और हल्का है।" जूआ हल्का होने का अर्थ है त्याग। जो त्याग नहीं कर सकेगा, उसका जीवन कैसे हल्का हो सकेगा! दूसरी ओर वे नम्र और दीन होने की बात भी करते हैं। इसी प्रकार का आश्वासन भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में दिया है।

अपिचेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मंतव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥९।३० गीता

इस प्रकार का आश्वासन न केवल ईसा ने प्रत्युत प्रत्येक धर्माचार्य ने समय-समय पर दिया है। किन्तु अनन्य भक्ति क्या इतनी सहज है? "मेरा जूआ उठा लो" का अर्थ है, संसार का सारा बोझ उतार लो। यह स्थितप्रज्ञ की स्थिति क्या सामान्य बात है?

ईसा के उपदेश यद्यपि हमें अत्यन्त सहज प्रतीत होते हैं और प्रचार-साधन की दृष्टि से उसे हिन्दू धर्म से कहीं अधिक सहज एवं क्षमाशील धर्म बताया जाता है—किन्तु वस्तुस्थिति ठीक विपरीत है। संसार को यदि आज मृत्यु के दरवाजे पर लाकर किसी ने बैठा दिया है, तो ईसा के नाम पर बड़े-बड़े

प्रचारक और शान्ति के अग्रदूत भेजने वाले राष्ट्रों ने। वे एक प्रकार से ईसा के मूल उपदेशों को पूर्णतः भूल चुके हैं या फिर समझ ही नहीं सके हैं। तभी तो स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका में कहा था :—"Christ's teachings are now very little understood in this country. If you will excuse me, they have never been very well understood." (Page – 321 /Vol I) (ईसा के उपदेश आज इस देश में बहुत ही कम समझे जाते हैं। यदि आप क्षमा करें, तो मैं कहूँगा कि वे कभी भी ठीक से नहीं समझे गये।)

ईसा के उपदेशों में जो सबसे बड़ी नवीनता है वह है उनकी नई साधना-पद्धति, जिसके द्वारा उन्होंने यह प्रमाणित कर दिया कि ईश्वर भयानक, ईर्ष्यालु तथा केवल दण्ड देने वाला नहीं है—वह अत्यन्त दयालु और सबका पिता है। इसके पूर्व यहूदियों में 'यहोवा' (ईश्वर) की बड़ी भयंकर कल्पना थी। ईसा का धर्म, सरल शब्दों में, मानवतावादी धर्म है। उनकी शिक्षा में भारतीय दर्शन के समान लोक-परलोक, जीवन-पुनर्जीवन, आत्मा के अनादि या सादि होने का समाधान, सृष्टि की उत्पत्ति या अन्त तथा ईश्वर के अस्तित्व को लेकर विशद व्याख्या कहीं भी नहीं है। किन्तु उनके उपदेशों में प्रेम और करुणा का सागर जहाँ-तहाँ लहरा रहा है। उनके शब्दों में हृदय को छू लेने वाली अद्भुत शक्ति है। ईसा की उपदेश-प्रणाली बहुत कुछ भगवान बुद्ध की तरह थी। मनुष्य मात्र के प्रति उनके मन में असीम प्रेम था। इसीलिये उन्होंने कहा भी था—"...कि वैद्य भले-चंगों के

लिये नहीं, परन्तु रोगियों के लिये अवश्य है। मैं धर्मियों को नहीं, परन्तु पापियों को मन फिराने के लिये बुलाने आया हूँ।" [लूका ५ : ३१-३२]

इस प्रकार अनवरत ३ वर्ष तक उपदेश देते और लोगों की सेवा करते, इस महापुरुष ने कई लोगों को नई आशा, नया उत्साह और नया प्राण दिया। किन्तु मानवता के हत्यारे इसे सह न सके और एक दिन जब यह महापुरुष केवल ३३ वर्ष का था, उसे सूली पर टाँग दिया। अन्त समय तक भी ईसा के मुँह से वही दया और क्षमा भरी आवाज सुनाई पड़ी—"हे पिता, इन्हें क्षमा कर, क्योंकि ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं!"

तभी तो ईसा के जीवन के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने एक महिला से कहा था, "देवि, यदि मैं ईसा के जीवन काल में पेलेस्टाइन में होता, तो उनके चरणों को अपने आँसुओं से नहीं बल्कि अपने हृदय के रक्त से धोता।"

पर इसका अर्थ यह नहीं कि कोई धर्म किसी दूसरे धर्म से श्रेष्ठ है, या कोई दूसरा धर्म हमारे कल्याण में अधिक सहायक हो सकता है। स्वामी विवेकानन्द ही हमें सावधान करते हुए कहते हैं—

"ईसाई को हिन्दू या बौद्ध नहीं होना है, न हिन्दू या बौद्ध को ईसाई बनना है। पर प्रत्येक को, वृद्धि के नियमानुसार, अपनी मौलिकता की रक्षा करते हुए दूसरों की भाव-

संपदा को आत्मसात् करना चाहिये।" सभी धर्मों के प्रति श्रद्धा करना तो ठीक है, पर भगवान् श्रीकृष्ण की इस वाणी को स्मरण रखते हुए कि—

"स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः।"

वासना का चिन्ह मात्र भी रह जाने पर भगवान् प्राप्त नहीं होते। धागे में यदि जरा भी गाँठ पड़ी हो, तो सूई के छेद में नहीं डाला जा सकता। मन जब वासना-रहित होकर शुद्ध हो जाता है, तभी सच्चिदानन्द का लाभ होता है।

—भगवान् श्रीरामकृष्ण

संसार में ईश्वर के मातृत्व भाव के प्रकाशन के लिये ही ठाकुर (श्रीरामकृष्ण) मुझे अपने पीछे छोड़ गए। —श्री माँ सारदा

जिसका मन पवित्र है, वह सभी वस्तुओं को पवित्र देखता है। —श्री माँ सारदा

जिस प्रकार पवन मेघ को उड़ा देता है, ठीक उसी प्रकार ईश्वर का नाम, मन पर छा जाने वाले संसार रूपी मेघ को उड़ा देता है।

—श्री माँ सारदा

धर्म का स्वरूप

प्राध्यापक हरवंशलाल चौरसिया, एम० ए०

मानव समाज के इतिहास में प्राचीन काल से ही धर्म-तत्त्व का अत्यंत उच्च एवं महत्वपूर्ण स्थान रहा है। समूचा भारतीय वाङ्मय धर्मतत्त्व के प्रतिपादन, इसको विभिन्न व्याख्या और परिभाषाओं से ओत-प्रोत है। व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र, विश्व सभी धर्म का क्षेत्र हैं। भारतीय संस्कृति में वर्णित चार पुरुषार्थ— अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष— भारतीय जीवन के प्राचीनतम मूल्य हैं और व्यक्ति के सर्वतो-मुखी विकास के आदर्श माने गये हैं। ये चारों पुरुषार्थ मनुष्य के नैतिक और आध्यात्मिक विकास के लिये नितान्त आवश्यक हैं। यथार्थ में ये चारों पुरुषार्थ मनुष्य के व्यक्तित्व के चार अंगों से सम्बन्धित हैं। भारतीय दर्शन के अनुसार मनुष्य को शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा, इन चार तत्वों का समन्वय माना गया है। शरीर के विकाश के लिये अर्थ, मन के विकास के लिये काम एवं प्रेम, बुद्धि के विकास के लिये धर्म और आत्मा के विकास के लिये मोक्ष को लक्ष्य माना है। धर्म ही व्यक्ति की अर्थ और काम वृत्तियों पर स्वस्थ नियंत्रण रखते हुए मोक्षरूपी चरम उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक होता है।

मानव ज्ञान की समस्त शाखाओं में किसी न किसी रूप में धर्म का उल्लेख आता है अतः उसके उचित स्वरूप से परिचित होना अनुचित और अप्रासंगिक न होगा। यदि पूर्व

मीमांसा में 'अथातो धर्मजिज्ञासा' सूत्र से धर्म के स्वरूप पर विचार प्रारंभ किया गया है, तो उत्तर-मीमांसा में 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्र से जगत् के मूल तत्त्व पर चिन्तन हुआ है। एक विद्वान् के अनुसार धर्म की लगभग ७०० व्याख्याएँ की गई हैं और फिर भी उनमें सब धर्मों का समावेश नहीं होता है। साधारण रूप से धर्म की परिभाषा "धार्यते इति धर्मः", अर्थात् जो धारण किया जाता है, वही धर्म है।

मनुस्मृति में धर्म की महत्ता 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' कहकर प्रदर्शित की गई है। वैशेषिक सूत्रकार, महर्षि कणाद, भी धर्म के लक्षण का इस प्रकार निरूपण करते हैं—

"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।" अर्थात् धर्म का अर्थ है आध्यात्मिक उत्कर्ष जिसके द्वारा व्यक्ति आत्म-स्वरूप की ओर अग्रसर होता है। यथार्थ में धर्म का सार आंतरिक सचेतनता, अभीप्सा का अनुरोध तथा तदाकारिता की भावना है जो व्यक्ति विराट् या असीम के प्रति अनुभव करता हैं। धर्म के पीछे काम कर रही केन्द्रीय और सारभूत अभीप्सा यही रहती है कि मनुष्य अनन्त, महत्तर और उच्चतर अस्तित्व को प्राप्त करने की साधना करे। सीमित सत्ता होने के कारण मानव के भीतर यह पुकार निसर्ग रूप से विद्यमान है।

आधुनिक मनोविज्ञान में धर्म को अचेतन का क्रियाकलाप कहा गया है। यह अचेतन ऐसी गत्यात्मक प्रक्रिया है जिसकी कोई भी व्याख्या करने में चेतना समर्थ नहीं है। विश्व-विख्यात मनोवैज्ञानिक डा० फ्रायड (Freud) धर्म को केवल दमित की गई काम-प्रवृत्ति का द्योतक मानते हैं। धर्म उनके

अनुसार एक भ्रम है। किन्तु धर्म सम्बन्धी ये आधुनिक मनोवैज्ञानिकों की व्याख्याएँ धर्म के तात्त्विक रूप की अपेक्षा उसके व्यावहारिक पक्ष को ही ध्यान में रखकर की गईं प्रतीत होती हैं।

डा० फ्रायड धर्म की उत्पत्ति मानव की ससीमता, उसकी विवशता अथवा उसकी शिशुवत असहायावस्था (Infantile helplessness) में मानते हैं। मानव की मूलभूत प्रवृत्तियों का यदि हम विश्लेषण करें तो हमें ज्ञात होगा कि हम सबमें जिजीविषा (जीनेकी इच्छा)है जिसका हमें स्पष्ट अनुभव होता है। इस जिजीविषा – सुखाभिलाषा और दुख के प्रतिकार की इच्छा – में ही धर्म का बीज निहित है। यह जीवन-विकास की प्राथमिक से प्राथमिक अवस्था में भी उपस्थित है, चाहे वह अव्यक्त अवस्था में ही क्यों न हो। विकसित मानवजाति के इतिहास का अध्ययन करने से यह सिद्ध होता है कि नन्हा शिशु जो प्रारम्भ में केवल माता - पिता के सहारे तथा कुटुम्ब के वातावरण में पुष्ट होता है, जैसे-जैसे बड़ा होता है, उसके ममत्व और आत्मीय भाव की परिधि भी विस्तृत होती जाती है। यह ममत्व या आत्मीय भाव परिवार, समाज एवं राष्ट्र की सीमा में ही आबद्ध न रहकर समग्र प्राणी वर्ग तक प्रसरित हो सकता है। प्राचीन ऋषियों की— 'वसुधैव कुटुम्बकम्', सर्व भूत हित', 'लोक संग्रह भावना' जैसी अनूठी उक्तियाँ इस सत्य की साक्षी हैं। जितने परिमाण में यह ममत्व सीमाबद्ध है,वह मोह है और जितने परिमाण में निस्सीम है, उतने परिमाण में वह प्रेम है। मोह की दशा में विद्यमान धर्म विकृत होकर अधर्म का रूप धारण कर

सकता है, पर प्रेम की दशा में वह धर्म के शुद्ध स्वरूप को ही प्रकट करता है। मनुष्य-जाति में ऐसी विकास-शक्ति है कि वह प्रेम-धर्म की ओर प्रगति कर सकती है, किन्तु कभी-कभी यही शक्ति विकृत होकर उसे उल्टी दिशा में भी खींचती है। यही कारण है कि मानव-जाति में देवासुर-वृत्ति का संघर्ष देखा जाता है। इतना होने पर भी यह निश्चित है कि यदि धर्म-वृत्ति का अधिक से अधिक उदय या पुष्पीकरण कहीं संभव हुआ है तो वह मनुष्य की आत्मा में ही।

धर्म के स्वरूप अथवा उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेकानेक मत होते हुए भी यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि जीवन में धर्म की उपादेयता की उपेक्षा नहीं की जा सकती। धर्म जीवन के लिये अनिवार्य है। धर्म-रहित मानव-जीवन का कोई मूल्य नहीं है। धर्म अथवा नैतिकता के अभाव में जीवन प्राणरहित शरीर की भाँति है। धर्म मनुष्य की दैवी वृत्ति है। यह वृत्ति ही उसमें सन्तोष, दान, करुणा, क्षमा, अहिंसा आदि अनेक गुणों को उत्पन्न करती है। धर्म–वृत्ति का उचित ढंग से अनुसरण करने से हम इस प्रकार जीने की आदत डाल सकते हैं कि हमारे अन्तः-करण में अशान्ति, क्षोभ, असन्तोष आदि दुर्गुण उत्पन्न न हों। जगत् में ऐसा क्यों होता है कि मनुष्य जीवन के सारे भौतिक समृद्धि के साधनों को प्राप्त करके भी अशान्त जीवन व्यतीत करता है? कुबेरोपम विभूति का स्वामी भी क्यों आत्मशान्ति और यथार्थ सुखानुभूति से अपने आपको वंचित मानता है? इस सारे विपर्यास का यही उत्तर हो सकता है

कि वास्तविक सुख केवल बाह्य साधनों से ही संभव नहीं है वरन् उसकी प्राप्ति के लिये जीवन में धर्म को उतारना अनिवार्य है।

साधारतया हम धर्म के दो रूप देखते हैं, एक तो जीवन-शुद्धि अथवा तात्त्विक जिसमें सामान्यतः किसी का मतभेद नहीं होता है और इस प्रकार इसे धर्म का सदगुणात्मक पक्ष भी कह सकते हैं। क्षमा, नम्रता, सत्य, संतोष आदि सदगुण इसी रूप के संवल हैं। धर्म का दूसरा रूप बाह्य व्यवहार अथवा बाह्य प्रवृत्ति रूप है जिसके अंतर्गत समस्त व्रत, नियम, क्रिया-कांड आदि आ जाते हैं। सत्य, करुणा, अहिंसा आदि तात्त्विक धर्म की कोई आलोचना नहीं करता बल्कि सभी विचारक उस तात्त्विक धर्म की पुष्टि, विकास एवं उपयोगिता का समर्थन करते हैं। धर्म के प्रति आलोचनात्मक रुख या उसमें परिवर्तन का प्रश्न धर्म के व्यावहारिक स्वरूप के सम्बन्ध में है और उसका उद्देश्य धर्म की विशेष उपयोगिता एवं प्रतिष्ठा बढ़ाना है। धर्म के दूसरे रूप (व्यावहारिक) में ही तरह- तरह के अनिवार्य मतभेद होते हैं। जो तात्त्विक और व्यावहारिक धर्म में निहित भेद से अवगत होते हैं, उनको व्यावहारिक धर्म के मतभेद क्लेश का कारण नहीं हो सकते। शुद्ध वृत्ति और शुद्ध निष्ठा निर्विवाद रूप से धर्म है, जब कि बाह्य व्यवहार के औचित्य एवं अनौचित्य के विषय में मतभेद हैं। इसलिये बाह्य आचारों, व्यवहारों, नियमों तथा रीति-रिवाजों की धार्मिकता या अधार्मिकता की कसौटी तात्त्विक धर्म ही हो सकता है।

धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन इसी सत्य का प्रतिपादन करता है कि अपने तात्त्विक रूप में सभी धर्मों में एक-समानता है। मनुस्मृति में धर्म के निम्न दस लक्षणों का वर्णन किया गया है:—उदारता, सत्यपरायणता, अक्रोध, विनय, पवित्रता, सन्तोष, भक्ति, आत्मसंयम, अपरिग्रह तथा ज्ञान। जैन ग्रन्थों के अनुसार भी धर्म के दस लक्षण माने गये हैं; जैसे, क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य एवं ब्रह्मचर्य। इसी भाँति बौद्ध और ईसाई धर्मों में भी धर्म के दस-दस लक्षण माने गये हैं। यह दस की संख्या सब में समान क्यों है, यह भी ऐतिहासिक शोध का विषय है। सभी धर्मों की तात्त्विक रूप में साम्यता को उपरोक्त तथ्य से बल मिलता है। धर्म अपने तात्त्विक रूप में नित्य, कालातीत और क्षेत्रातीत है। ऐसा धर्म कभी भी भारस्वरूप नहीं हो सकता, पर इसकी प्राप्ति के लिये मनुष्य जो विधि-विधान करता है, यदि वह युगानुसारी न हो तो वह मनुष्य के जीवन में घुटन उत्पन्न कर देता है। अतः यथार्थ धर्म की प्राप्ति हेतु साधनों का समय और परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तित होते रहना आवश्यक है। अज्ञानवश व्यक्ति धर्म के बाह्याचार, बाह्याडम्बर, नानाविध क्रियाकाण्ड से ही प्रभावित होकर उसमें उलझ जाता है और धर्म के यथार्थ स्वरूप को भुला देता है। ऐसी अवस्था में उसे आभ्यन्तर का यथार्थ पाने की उत्सुकता प्रायः नहीं होती। किन्तु ज्ञान का उद्रेक होने पर यह बाह्याडम्बर उसे भार स्वरूप प्रतीत होने लगता है। इस अन्ध श्रद्धा को दूर करने का एक ही उपाय है कि हम धर्म के साधनों को युगानुसारी बनायें।

मोटे रूप से धर्म के तीन भेद हो जाते हैं—नित्यधर्म, युगानुसारी धर्म और आपद्धर्म। दस लक्षणों से परिपूर्ण, तात्त्विक स्वरूप वाला नित्यधर्म ही प्राप्तव्य और यथार्थ धर्म है। यही त्रिकालबाधित है। उपासना की बाह्य रीतियाँ, अनेकानेक क्रियाकाण्ड, परंपराएँ एवं रीति-रिवाज, ये सभी युगानुसारी धर्म के परिचायक हैं; ये स्वत: धर्म नहीं वरन् धर्म के साधन हैं। युग और परिस्थितियों के अनुसार आचार-संहिताएँ भिन्न होती हैं। हमारी जीवन-पद्धति में समयानुकूल परिवर्तन आवश्यक होता है। धर्म के शाश्वत होने पर भी उसके साधन शाश्वत नहीं होते। साधनों पर परिस्थितियों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है, अत: साधनों की अपरिवर्तनशीलता का आग्रह करना अनेक मतभेदों को जन्म देता है। धर्म के नाम पर कलह, द्वेष, अत्याचार इसी कारण पनपते हैं। साधनों में परिवर्तन स्वीकार किये बिना धर्म उपेक्षित या भारस्वरूप हो जाता है। जिस धर्म के साधन युगानुसारी होते हैं वही धर्म जीवित एवं कल्याणकारी होता है अन्यथा मृतप्राय हो जाता है।

आपद्धर्म तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये होता है। सभी धर्मों में आपद्धर्म के उदाहरण मिलते हैं। आपद्धर्म में जो नियमोल्लंघन होता है उसका कारण मनुष्य की अशक्ति है। तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति के पश्चात इसका परित्याग कर देना उचित माना गया है। स्वार्थ के वशीभूत होकर यदि हम इसका उपयोग करते हुए लाभ उठाना चाहें तो यह कार्य निंदनीय होगा और यथार्थ धर्म के विरुद्ध ही

प्रमाणित होगा। कैसे संकट या आपत्ति के समय मनुष्य क्या करे, इसका निर्णय उसे अपने विवेक से ही लेना चाहिये। संकटास्पद स्थिति में व्यक्ति का विवेक ही उचित मार्ग का प्रदर्शन करते हुए यथार्थ धर्म की ओर अग्रसर कर सकता है।

जो धर्म व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र का उत्थान नहीं कर सकता अथवा इनके उत्थान में बाधा उपस्थित करता है, वह किसी भी परिभाषा के अनुसार धर्म कहलाने के योग्य नहीं है। वर्तमान युग में प्रत्येक विषय में सार्वजनिक शिक्षा की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। इस युग में भी धर्म की सर्वग्राह्य, सार्वजनिक शिक्षा कितनी आवश्यक है, यह हमें दिन प्रतिदिन बढ़ती हुई धर्म विषयक ऐतिहासिक और तुलनात्मक शिक्षा से ज्ञात हो जाता है। धर्म के यथार्थ स्वरुप या उसकी आत्मानुभूति के लिये मन को पूर्वाग्रहों और संकीर्णता के बन्धनों से परे रखकर,तथ्य जानने,विचारने और स्वीकार करने की ओर रुचि और तत्परता का होना बहुत आवश्यक है। सत्य की जिज्ञासा और शोध किसी एक स्थान अथवा कालविशेष की चीज नहीं है। प्रत्येक देश और काल में जिज्ञासुओं के लिये उनके द्वार खुले रहते हैं। जिस प्रकार ताजे और पोषक अन्न के बिना जीवन नहीं चल सकता, उसी प्रकार जड़ता-पोषक धर्म का कलेवर त्याज्य होते हुए भी यथार्थ धर्म के बिना राष्ट्रीयता अथवा मानवता नहीं टिक सकती। व्यक्ति की सारी शक्तियाँ, सिद्धियाँ और प्रवृत्तियाँ जब एक मात्र सामाजिक कल्याण की ओर उन्मुख हो जाती हैं, तभी धर्म अपने उज्जवलतम रूप में देदीप्यमान हो उठता है।

कनेडा में सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन

श्री श्यामनारायण शुक्ल, यूनिवर्सिटी ऑफ न्यू ब्रंसविक ।

कनेडा क्षेत्रफल में भारत से डेढ़ गुना बड़ा है किन्तु यहाँ की जन संख्या केवल २ करोड़ के लगभग है। यहाँ की प्राकृतिक संपत्ति अमित है। ये ही बातें इस देश के ऐश्वर्य का प्रमुख कारण हैं। जीवन-स्तर, वैयक्तिक स्वतंत्रता, शिक्षा और सुदृढ़ शासन प्रणाली आदि की दृष्टि से यह देश संयुक्त राज्य से बहुत कुछ समानता रखता है।

इस देश के किसान अन्य महाद्वीपों के किसानों की अपेक्षा अधिक सम्पन्न एवं सुखी हैं पर तुलनात्मक दृष्टि से वे यहाँ के अन्य पेशेवरों की अपेक्षा असन्तुष्ट हैं। किसानों की स्थिति द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक काफी अच्छी थी। महायुद्ध के समय से उन्हें अपने कार्य के लिये मजदूर नहीं मिलते। यहाँ के किसान को दिन भर, सबेरे से रात तक, काम में लगे रहना पड़ता है। वे जितना परिश्रम करते हैं उस अनुपात में आधुनिक सुख-सुविधाओं का उपभोग नहीं कर पाते। यही कारण है कि उनमें कृषि कार्य छोड़कर शहरों में अन्य धंधों के लिये आने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। इसे रोकने के लिये सरकार किसानों को अनेक सुविधायें प्रदान कर रही है। प्रेयरी विभाग के सस्केचुवान, अलबर्टा तथा मैनीटोबा प्रांतों में गेहूँ, और अटलांटिक प्रांतों में आलू,

दूध, मक्खन आदि इतने परिमाण में होते हैं कि निर्यात के बाद भी काफी बचत हो जाती है। उत्पादन की तुलना में उपभोग बहुत ही कम है। पर किसानों का उत्साह बनाये रखने के लिये सरकार इन वस्तुओं का भाव स्थिर रखने का प्रयत्न करती है और उनसे वस्तुएँ खरीदती है। इसका परिणाम यह हुआ है कि वे न चाहते हुए भी चीन को गेहूँ बेच रहे हैं तथा हजारों टन मक्खन यहाँ के सरकारी कोल्ड-स्टोरेज में पड़ा है। पशुओं की महामारी के समय पशुहानि पर किसानों को सरकार से उचित मुआवजा मिलता है।

कृषि व खनिज के सिवाय कनेडा का सबसे बड़ा आय का साधन है, जंगल। प्रेयरी व पश्चिमोत्तर प्रांत को छोड़कर सारा देश जंगलों से ढका है। हजारों टन कागज यहाँ से निर्यात होता है। लकड़ी की अधिकता के कारण ही यहाँ के घर लकड़ी के होते हैं। नींव के सिवाय घर के सारे भाग—दीवाल, फर्श तथा छप्पर इत्यादि लकड़ी के होते हैं। केवल आफिस, स्कूल तथा अन्य सार्वजनिक भवन ईंट, पत्थर, कांक्रीट तथा इस्पात के होते हैं।

इस देश में दो राष्ट्र भाषायें हैं, अंग्रेजी व फ्रेंच। क्विबेक प्रांत में ८० प्रतिशत लोग फ्रेंच भाषी हैं। वहाँ के कुछ लोग क्विबेक को स्वतंत्र राष्ट्र बनाने का आंदोलन कर रहे हैं। दो राष्ट्र-भाषा के कारण लोगों को एक सूत्र में बाँधना एक जटिल समस्या है। आज स्वतंत्रता के १०० वर्ष पश्चात् भी इंग्लैंड की महारानी इस देश की राष्ट्र-प्रधान हैं। अभी तक राष्ट्र-ध्वज तथा राष्ट्रगीत नहीं चुना गया है। इन बातों के कारण

बहुत लोग असन्तुष्ट हैं। प्रायः इन विषयों पर पत्रिकाओं में अनेक विवाद छपते रहते हैं।

लोगों के भोजन का मुख्य अंग मांस होता है। इसका मुख्य कारण भौगोलिक है। भयानक ठंड को सह सकने के लिये मांस आवश्यक है। साथ ही कुछ समय पूर्व तक जब कोल्ड स्टोरेज नहीं था और बर्फ के कारण ४-५ माह तक कोई भी सब्जी नहीं उगाई जा सकती थी, तब मांस ही मुख्य भोजन था और आज भी है। आज तो यह सुविधा है कि सारे वर्ष भर आप किसी भी ऋतु या देश का फल तथा सब्जी खा सकते हैं।

यहाँ प्राय: ७० प्रतिशत लोग मैट्रिक के बाद पढ़ाई छोड़ कर धंधों में लग जाते हैं। कालेजों में भारत की तरह ही लड़कियों की संख्या लड़कों की अपेक्षा कम होती है। बैंक, पोस्ट-आफिस, लायब्रेरी, दुकानों तथा कार्यालयों में लिपिक के कार्य के लिये स्त्रियाँ ही होती हैं। स्त्रियों के काम करने के दो कारण हैं—पहला यह कि इससे वे पति पर आश्रित न होकर अपनी वैयक्तिक स्वतंत्रता बनाये रख सकती हैं और दूसरे, गृहस्थी के सब उपकरण—घर, मोटर, टेलीविज़न, कपड़े धोने की मशीन, भोजन के लिये बिजली का स्टोव, फर्नीचर आदि की शीघ्र उपलब्धि के लिये केवल पति का वेतन ही पर्याप्त नहीं होता। अत: वे इस दृष्टि से सहायक होती हैं।

लोग सप्ताह में केवल ५ दिन काम पर जाते हैं। शनिवार तथा रविवार की छुट्टी होती है। प्रतिदिन ८ घंटा काम करना

पड़ता है। यहाँ लोग काम बड़ी लगन से और उत्तरदायित्व के साथ करते हैं। सप्ताहांत की छुट्टियों में लोग शहरों से दूर, शिकार, मछली मारने या झील अथवा समुद्र तट पर पिकनिक के लिये चले जाते हैं। लोगों की नैतिकता सराहनीय है। यदि कोई वस्तु हम कहीं भूल से छोड़ जायँ, तो २-३ दिन बाद भी वह वहीं अथवा किसी सुरक्षित जगह में मिलेगी। इक्के-दुक्के डकैती के जो समाचार मिलते हैं, वह प्रायः बैंक या लखपतियों के यहाँ काफी बड़ी रकम के होते हैं। यहाँ 'हिच-हाइकिंग' से बड़ी दूर तक सैर किया जा सकता है। हाथ दिखाने पर यदि जगह हुई, तो लोग 'हिच-हाइकर' को अपनी मोटर में बैठा लेते हैं। किन्तु इससे अपराध में वृद्धि होती जा रही है। लुटेरे व हत्यारे भी 'हिच-हाइकिंग' के बहाने दुष्कर्म करते हैं, अतः पुलिस उस पर रोक लगाने लगी है।

इस देश में पैर रखते ही सबसे पहले हम जो बात देखते हैं वह है लोगों का हँसमुख चेहरा। किसी भी व्यक्ति को, चाहे वह अपरिचित ही क्यों न हो, मुस्कराहट के साथ अभिवादन करना यहाँ का मुख्य शिष्टाचार है। अंग्रेजों के इस शिष्टाचार पर कि परिचय कराये बिना वे किसी से बात नहीं करेंगे, यहाँ अनेक व्यंग्यात्मक कहानियाँ हैं। लोग एक दूसरे को संबोधन के लिये अत्यन्त ही मधुर व प्रेमपूर्ण भाषा का प्रयोग करते हैं। यहाँ के दैनिक व्यवहार में पद या उम्र की दृष्टि से ऊँच-नीच का बिलकुल ही अन्तर नहीं दिखता। यह अंतर दूर करने के लिये यहाँ यह प्रथा है कि

'डॉ० स्टीवेन्स' या 'प्रो० स्कॉट' कहलाने के बजाय लोग कार्यालयों में भी अपने से छोटे-बड़े सभी अधिकारियों द्वारा अपने घर के संक्षिप्त नाम 'टाम' 'बाब' आदि से सम्बोधित किया जाना पसन्द करते हैं। काम के प्रकार में मानों कोई भेद ही नहीं समझा जाता। मजदूरों की कमी होने के कारण बाहर काम करने वालों को लिपिकों की अपेक्षा अधिक मजदूरी मिलती है। एक मजदूर कम से कम तीन सौ डालर प्रति माह कमा लेता है। वेतनों में बहुत अधिक अंतर भी नहीं होता। यही कारण है कि कालेज के लेबोरेटरी असिस्टेंट और यहाँ तक कि झाड़ू लगाने वाले जेनीटर के पास भी नई कार है।

अधिकांश विभागों में गर्मी की छुट्टी की सुविधा है। छुट्टी में लोग दूर देशों में भ्रमण के लिये जाते हैं। छुट्टी में रिक्त जगहों के लिये विद्यार्थियों को कार्य मिल जाता है। उस समय वे इतना कमा लेते हैं कि वह रकम उनकी साल भर की पढ़ाई के खर्चे के लिये पर्याप्त होती है। इस तरह प्रायः सभी विद्यार्थी बिना अभिभावक की सहायता के अपनी शिक्षा के लिये आर्थिक व्यवस्था करते हैं। इसीलिये यहाँ उच्च शिक्षा, पिता के धनी या निर्धन होने पर नहीं बल्कि विद्यार्थी की योग्यता पर निर्भर करती है। यहाँ की सुविधाएँ तथा आकर्षक 'वर्किंग कंडीशन' देखकर यूरोप के अनेक देशों से, यहाँ तक कि इंग्लैंड व जर्मनी से भी, वैज्ञानिक व इंजीनियर अमेरिका तथा कनेडा आते जा रहे हैं।

घर बनाने के लिये सरकार से सुविधाजनक किस्त पर

आवश्यक 'लोन' मिल जाता है। कम्पनियाँ व दुकानें किश्त पर मोटर, टेलीविज़न आदि उपकरण दे देती हैं। लोग वर्षों तक उधार छूटते रहते हैं। जीवन-स्तर भी वे इस तरह बना चुके हैं कि उनसे इन वस्तुओं के बिना रहा नहीं जाता। साधारण मध्यम श्रेणी के परिवार के पास दो मोटरें (एक पति व दूसरी पत्नी के लिये) और दो घर (एक शहरमें और दूसरा शहर से दूर 'कंट्री-साइड' में नदी, झील या समुद्र के किनारे निर्जन में) होते हैं। इस देश का नक्शा देखने से पता चलता है कि सारा देश प्राकृतिक झीलों से भरा पड़ा है। शहरों से दूर 'कंट्री-साइड' में ग्राम कहने लायक किसी एक जगह घरों का समूह नहीं मिलता। सड़कों के किनारे एक दूसरे से काफी दूर, जंगलों या खेतों के बीच घर बनाए गए हैं। उन घरों में भी बिजली, टेलीफोन, नल का पानी आदि आधुनिक सुविधाएँ प्राप्य हैं।

यहाँ सभी वस्तुओं में सरकार कर लगाती है। अधिकांश वस्तुओं में केन्द्रीय तथा प्रांतीय दोनों कर हैं। आयकर तथा बिक्रीकर बहुत ही अधिक हैं। कनेडियन डालर अंतर्राष्ट्रीय बाजार में यद्यपि ४ रुपये ३५ नये पैसे के बराबर है तथापि मशीनों को छोड़कर अन्य वस्तुओं के लिये उसकी क्रय शक्ति प्रायः दो रुपये के बराबर ही होगी।

श्वेत लोग यूरोप से यहाँ प्रायः ३५० वर्ष पूर्व आये थे। यहाँ के आदिवासी रेड-इंडियन तथा एस्किमों हैं। ये आदिवासी मङ्गोलियन जाति के हैं। ऐसा समझा जाता है कि ये

लोग एशिया से साइबेरिया व अलास्का के मार्ग से प्रायः दस हजार वर्ष पूर्व यहाँ आये होंगे। उत्तर ध्रुवीय प्रदेशों में एस्किमों रहते हैं तथा दक्षिण के वन-विभाग में रेड-इंडियन। रेड-इंडियन श्वेतों के आने के पूर्व तक, एक वीर जाति के रूप में सम्मानित थे। वे वीरता से यहाँ की भीषण प्राकृतिक कठिनाइयों से लड़ते हुए जीवन यापन करते थे। पर वे आज सरकार पर आश्रित व आलसी समझे जाते हैं। श्वेत जाति द्वारा पराजय के कारण उनकी नैतिकता समाप्त हो चुकी है। अधिकांश इंडियन जो शहरों से दूर वनों में बसते हैं, उन्हें सरकार से आर्थिक सहायता मिलती है। अब धीरे-धीरे उनका आधुनिक सभ्यता से संपर्क बढ़ता जा रहा है। कुछ सुशिक्षित लोग शहरों में नौकरी करने लगे हैं। नोवा-स्कोशिया प्रांत की सरकार में एक रेड-इंडियन मन्त्री भी है। अब तो रेड-इंडियन व श्वेत लोगों के बीच विवाह भी होते जा रहे हैं। कोलंबस जब द्वीपों की खोज में अमेरिका पहुँचा, तब उसने सोचा कि वह भारत पहुँच गया है। इसलिये उसने यहाँ के आदिवासियों को 'इंडियन' नाम दे दिया था। वे अपने शरीर को लालमिट्टी से लीपकर सजाते थे इसलिए वे 'रेड-इंडियन' कहलाये। आज रेड-इंडियनों की जनसंख्या धीरे-धीरे घटती जा रही है। हो सकता है यह उनके नैतिक पतन के परिणामस्वरूप एक मनोवैज्ञानिक असर हो।

एस्किमों जाति के उत्थान के लिये भी सरकार अनेक योजनाएँ बना रही है। उनकी शिक्षा, चिकित्सा व व्यापार-वृद्धि के लिये प्रबंध कर रही है। पर उस दिशा में यहाँ की

सरकार रूस से पीछे है। उत्तरी प्रान्त की प्रगति के लिये केन्द्रीय सरकार में एक मन्त्री के नीचे एक अलग विभाग है।

यहाँ भारतीय प्रथा से भिन्न जीवन साथी चुनने के लिये लड़के व लड़कियाँ स्वतंत्र होते हैं। माता-पिता का हस्तक्षेप नहीं होता। लड़के-लड़कियाँ एक दूसरे को समझें, एक दूसरे की रुचि-व्यवहार आदि से परिचित हों इसके लिये किशोरावस्था से ही उन्हें संपर्क में आने की अधिक से अधिक छूट दी जाती है। लड़का और लड़की प्रायः शाम के समय 'डेट' पर जाते हैं। 'डेट' का उद्गम प्रायः १०० वर्ष पूर्व हुआ था। जब दो परिचित परिवारों में विवाह योग्य लड़के-लड़कियाँ होते थे, तब उन्हें एक दूसरे के संपर्क में लाने के लिये एक परिवार दूसरे को भोजन या अल्पाहार के लिये किसी निश्चित तिथि पर आमंत्रित करता था। भोजन के टेबिल पर लड़का और लड़की को पास-पास बैठने का अवसर दिया जाता था। यदि दोनों ने एक दूसरे को पसंद कर लिया, तो विवाह हो जाता था। आज यहाँ 'डेट' का बड़ा विकृत रूप है। लड़के-लड़कियाँ अकेले कहीं भी जाने के लिये स्वतंत्र हैं। उसका दुष्परिणाम है अनेक अविवाहित माताएँ, जो आज समाज की समस्या हैं। अधिकांश विवाह तो तब होते हैं जब लड़की माता बनने की तैयारी कर चुकती है। इस समस्या पर प्रायः लेख छपते रहते हैं। समाज इस रोग से मुक्ति के लिये व्याकुल है, पर निरुपाय है। एक ओर तो यह चिन्ता है, पर साथ ही दूसरी ओर लड़की के १५ वर्ष प्राप्त होने पर माता उसे लड़कों के साथ 'डेट' पर जाने के लिये प्रोत्साहन

देती है। लड़की को 'डेट' न मिलने पर माता-पिता चिंतित हो उठते हैं। लड़की भी अपने को हीन समझने लगती है। आश्चर्य तो यह है कि मन-पसंद पति-पत्नी चुनने के बाद भी अमरीकी देशों में विवाह-विच्छेद की अधिकतम संख्या है। कहते हैं कि अमेरिका का हर दूसरा व्यक्ति तलाक के बाद दूसरा विवाह करता है। पिछले महीने ही न्यूयार्क के गवर्नर श्री राकफेलर ने, जो अगले चुनाव में रिपब्लिकन पार्टी के राष्ट्रपति पद के लिये मनोनीत उम्मीदवार हैं, अपने चार बच्चों की माँ- पहली पत्नी- को तलाक देकर दूसरा विवाह किया। भारतीय-विवाह-प्रथा के संबंध में यहाँ के लोग आश्चर्य प्रकट करते हैं। यह बात उनकी कल्पना के परे है कि लड़का एक अपरिचित लड़की को जिसे उसने देखा तक नहीं, जीवन-संगिनी के रूप में कैसे स्वीकार कर लेता है। उस पर विवाह-विच्छेद नहीं होना और भी आश्चर्य की बात है।

रोमन कैथोलिक ईसाइयों में नियम है कि विवाह के तीन सप्ताह पूर्व भावी दंपत्ति पादरी को विवाह की सूचना देते हैं। उसके बाद प्रत्येक चर्च-सम्मेलन में पादरी उनके विवाह-संबंध के बारे में घोषणा करता है, जिससे यदि कोई व्यक्ति यह जानता हो कि वह अनुचित विवाह-संबंध है तो उसकी जानकारी चर्च को यथासमय दे सके।

विवाह के बाद ही नव-दम्पत्ति अलग घर में रहने लगते हैं। लड़का विवाहित होने के उपरांत कभी भी माता-पिता के घर में नहीं रहता। माता-पिता की परवरिश भी उसका उत्तरदायित्व नहीं है। प्रायः लोग कमाने लायक होने के बाद

ही विवाह करते हैं। अनेक ऐसे भी उदाहरण हैं कि पत्नी आफिस में काम करती है और पति विश्वविद्यालय में विद्यार्थी है। यहाँ अनेक ऐसे व्यक्ति मिलते हैं जो ७०-८० वर्ष की आयु में भी दूसरा विवाह करते हैं। यह केवल वृद्धावस्था में वैधव्य के कारण एकाकीपन को दूर करने के लिये होता है।

यहाँ Y. M. C. A. तथा Y. W. C. A. संस्थाएँ अत्यंत ही सराहनीय कार्य करती हैं। ये सामाजिक संस्थाएँ जनता के दान पर जीवित हैं तथा इनकी शाखाएँ सारे संसार में फैली हैं। लोगों के बीच बंधुत्व बढ़ाना ही इनका मुख्य ध्येय है। ये संस्थाएँ विदेशी विद्यार्थियों के प्रति विशेष जागरूक हैं।

यहाँ के चर्च लोगों में धार्मिक सजगता बनाये रखने के लिये सतत परिश्रम करते हैं। प्रत्येक चर्च की अपनी पाठ-शालाएँ व विश्वविद्यालय हैं जिनके खर्च के लिये चर्च के सदस्यों व सरकार से उन्हें सहायता मिलती है। चर्च में धार्मिक प्रवचन से लेकर जिमनेसियम व स्विमिंगपूल तक की व्यवस्था होती है। प्रत्येक चर्च की अनेक शाखाएँ विभिन्न देशों में काम करती हैं। भारत के संबंध में जो विचित्र धारणाएँ यहाँ के लोगों में हैं, उसका कारण है भारत में कार्यरत मिशनरियाँ इन मिशनरियों द्वारा दी गयी भ्रामक जानकारी के कारण ही ये भारत को दीन-हीन, भूखे, नंगे व रोग-ग्रस्त लोगों का राष्ट्र समझते हैं। इसी तरह के चित्र दिखाकर वहाँ कार्य कर रही मिशनरियाँ यहाँ के लोगों से धन इकट्ठा करती हैं।

चर्च के पदों के लिये अनेक विश्वविद्यालयों में विशेष शिक्षा दी जाती है। 'डिव्हीनिटी' विषय में डिग्री प्राप्त लोग ही चर्च में 'पास्टर' या 'मिनिस्टर' पद पर कार्य कर सकते हैं। चर्चों में प्रति सप्ताह अनेक सम्मेलनों के सिवाय रेडियो व टेलीविजन पर भी धार्मिक प्रवचन प्रसारित किये जाते हैं। चर्च का पास्टर अपने भाषण को अधिकतम रोचक व नया बनाने का प्रयत्न करता है। प्रत्येक चर्च-सम्मेलन में लोगों से यथाशक्ति चन्दा इकट्ठा किया जाता है। जहाँ एक ओर कट्टर धार्मिक ईसाई हैं, वहाँ अनेक ऐसे लोग हैं जो धर्म और ईश्वर पर विश्वास नहीं करते।

क्रिसमस यहाँ का सबसे बड़ा त्यौहार है। क्रिसमस के एक-डेढ़ महीना पहले से ही बाजार व दुकानों में चहल-पहल प्रारंभ हो जाती है। सारा बाजार सजा होता है। "क्रिसमस शापिंग" के नाम पर विक्रेता खूब विज्ञापन करते हैं। क्रिसमस के दो मुख्य पात्र हैं—'सांताक्लाज़' और 'क्रिसमस-ट्री'। मुझे बताया गया कि इनका उल्लेख बाइबिल में नहीं मिलता, न इसका ईसाई धर्म से ही कोई संबंध है। मालूम नहीं सांता-क्लाज़ और क्रिसमस-वृक्ष का क्रिसमस के साथ कैसे संयोग हुआ। इनका उद्गम स्कैंडेनेवियन देशों में ईसाई धर्म के प्रादुर्भाव के पहले से है। सांता-क्लाज एक बूढ़ा, सफेद दाढ़ी-मूछों वाला लाल कोट पहना हुआ व्यक्ति है। वह क्रिस-मस की पहली रात में उत्तर-ध्रुवीय प्रदेशों से आता है। उसके रथ में रेनडियर जुते होते हैं। वह आकाश मार्ग से आकर घर की चिमनी से प्रवेश कर बच्चों के लिये उपहार

छोड़ जाता है। बच्चों को वह बड़ा प्यारा है। इसीलिये उन दिनों दुकानों में कुछ लोग सांता-क्लाज़ के वेश में खड़े होकर 'उपहार' बेचते हैं। पिछले साल क्रिसमस के समय मांट्रियाल के एक बैंक को लूटने दो डाकू आये। वे सांता-क्लाज़ के वेश में थे। 'क्रिसमस ट्री' घर के किसी कोने में सजाया जाता है। यह किसी सदा-बहार वृक्ष, फर, पाइन या वर्च की शाखा होती है। इसे रंगीन बल्ब और कागज के फूलों आदि से सजाते हैं। घर के सब सदस्य एक दूसरे के लिये जो उपहार खरीदते हैं या मित्रों से जो उपहार के रूप में आय होती है, वह सब क्रिसमस-वृक्ष के नीचे रखा जाता है। फिर एक-एक करके सब पैकेट खोले जाते हैं। शाम को क्रिसमस के उपलक्ष में भोज होता है। यहाँ के विभिन्न परिवार विदेशी छात्रों को भोज के लिये अपने घर निमंत्रित करते हैं, जिससे वे इस महत्त्वपूर्ण अवसर पर अपने घर से दूर होने के कारण पारिवारिक आनन्द की कमी अनुभव न करें। आज जापान में भी क्रिसमस के धार्मिक रूप का तो नहीं किन्तु सांता-क्लाज़ व क्रिसमस-ट्री का प्रवेश हो चुका है। चूँकि संयुक्त-राज्य में सदाबहार वृक्षों की कमी है, अतः हजारों डालर के क्रिसमस-ट्री कनेडा से वहाँ जाते हैं।

दिनोंदिन जीवन तीव्रगामी होता जा रहा है। यहाँ की सड़कें और मोटर गाड़ियाँ आदि अधिक से अधिक गति के लिये डिज़ाइन की जा रही हैं। यंत्रीकरण के साथ-साथ भौतिक सुविधाएँ बढ़ती जा रही हैं, पर लोग यह भी अनुभव कर रहे हैं कि शीघ्रगामी जीवन से मानसिक शांति घटती जा रही है।

———

सपत्ति देवो भव

श्री सन्तोष कुमार झा

संसार के दु:खो में दरिद्रता महा दु:ख है। यह एक ऐसा दु:ख है, जो अन्य अनेक दु:खों को जन्म देता है। दु:खों से छुटकारा पाने का सरल उपाय यही है कि हम दरिद्र न रहें। संपत्तिवान् होकर ही मनुष्य दरिद्रता से बच सकता है: संपत्ति हमें अभावों से मुक्त कर देती है, और अभावों से मुक्ति का नाम ही सुख या तृप्ति है।

साधारणत: हमारी धारणा है कि धन ही संपत्ति है। नि:सन्देह वह भी संपत्ति की बहुविध विभूतियों में से एक है, किन्तु वह स्वयं संपत्ति नहीं है। संपत्ति तो वह क्षमता है जो सभी प्रकार के अभावों को दूर कर सके। इस कसौटी पर जब हम धन को कसते हैं, तब हम पाते हैं कि धन में अभावों को दूर करने की यह क्षमता प्राय: नहीं सी है। संसार में कितने ही ऐसे धनी-मानी लोग हैं जो धनवान् होकर भी असन्तुष्ट हैं, अतृप्त हैं, दु:खी हैं। कोई व्यक्ति चाहे लखपति या करोड़पति ही क्यों न हो, यदि दुर्भाग्य से उसका पुत्र मर जाय तो वह संपत्ति, जिसे हम धन कहते हैं, उसे पुत्र-शोक से नहीं बचा सकती। उसी प्रकार निन्दा, ईर्ष्या, छल आदि के दु:खों से मनुष्य धन के द्वारा नहीं बच सकता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि धन अपने आप में संपत्ति नहीं है।

संपत्ति का दूसरा आवश्यक गुण है—अक्षयता। सच्ची सम्पत्ति का कभी नाश नहीं होता। धन तो बरसात की धूप के समान है, जो अभी है तो दूसरे क्षण नहीं। वह तो अधिक से अधिक हमारे इस लोक के जीवन तक ही हमारे साथ रह सकता है। शरीर के साथ-साथ धन का भी अन्त हो जाता है, किन्तु शरीर के साथ जीवन का अन्त नहीं होता। सच्ची सम्पत्ति तो वह है, जो इहलोक और परलोक, सभी जगह हमारे साथ रहे।

भगवान् श्रीकृष्ण ने विस्तार पूर्वक गीता में इसकी चर्चा की है। वे कहते हैं—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञान योगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

(गीता १६:१-३)

अर्थात् भय का सर्वथा अभाव, अन्तःकरण की स्वच्छता, ज्ञान और योग में दृढ़ स्थिति, सात्त्विक दान, इन्द्रियों का दमन, भगवत् पूजा आदि यज्ञ रूपी कर्म, कष्ट, सहिष्णुता आदि तपस्या, सरलता, अहिंसा, सत्त्व, अक्रोध, त्याग, शान्ति, किसी की चुगली न करना, सब जीवों पर दया, अलोलुपता, मृदुता, दुष्कर्म करने में लज्जा, अचपलता, तेजस्विता, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, किसी के प्रति द्रोह न करना, निरभिमानता,

आदि छब्बीस लक्षण संपत्ति के घटक बताए गये हैं। इन्हीं गुणों की प्राप्ति के द्वारा ही हम संपत्तिवान् हो सकते हैं।

संपत्ति के स्वरूप को स्पष्ट जान लेने के पश्चात् हमें यह जानना आवश्यक है कि हम किस प्रकार इन गुणों को प्राप्त करें? इसके लिये भगवान् श्रीकृष्ण ने हमें अभ्यास-योग का सरल मार्ग बताया है। इन सब गुणों के विपरीत अनेक ऐसे दुर्गुण हैं, जो हमें दरिद्र बना देते हैं। इनसे बचने का एक ही उपाय है कि हम लोग निरन्तर अपने चरित्र में इन सद्गुणों को उतारने का प्रयास करें, और धीरे-धीरे दुर्गुण रूपी सारी दरिद्रता को त्याग कर, उस अचल सम्पत्ति के अधिकारी हो जायँ जो जन्म-जन्मान्तर में भी हमारे साथ रहेगी।

आइये इसी संपत्ति देव की उपासना करके हम प्रेम, दया, सहानुभूति आदि अमूल्य रत्नों को प्राप्त करें और सदैव इस मन्त्र का जाप करें—"संपत्ति देवो भव"।

स्त्री यदि वृद्धा हों तो अपनी माता समझो, युवती हो तो बहिन और छोटी हो तो अपनी संतान।

—भगवान बुद्ध

अपवित्रता से दूर रहो और पवित्र जीवन बिताओ।

— भगवान बुद्ध

एकांकी नाटक

मूर्ति-पूजा

लेखिका— कुमारी झरना बोस, किशनगढ़

पात्र:

स्वामीजी	विश्वविख्यात हिन्दू संन्यासी स्वामी विवेकानन्द।
महाराज मङ्गल सिंह	अलवर-नरेश।
दीवान रामचन्द्र	अलवर के दीवान।
डा० गुरु चरण लश्कर	अलवर के चिकित्सालय के बंगाली चिकित्सक।
मौलवी साहब	स्थानीय उच्च अंग्रेजी विद्यालय के शिक्षक।
इंजीनियर शंभुनाथ	राज्य के इंजीनियर।

राजकर्मचारीगण, भृत्यगण, रावजी, पंडितजी आदि दर्शक गण।

समयः १८९१ ई०, फरवरी का महीना।

(अलवर के दीवान रामचन्द्र के भवन का एक हॉल। भृत्य हॉल साफ़ करते हुए, मसनद आदि ठीक करते हुए नज़र आते हैं। एक नौकर असन्तोष से बड़बड़ा रहा है।)

रामधन—अरे मंगल ! काम कर रहा है कि मज़ाक कर रहा है। बड़बड़ा रहा है तबसे।

मङ्गल—मैं बड़बड़ा रहा हूँ, मुँह तेरा तो दरद नहीं हो रहा ?

रामधन—दरद तो नहीं हो रहा, पर ज़रा कालीन तो सीधी बिछा।

मङ्गल—(जल्दी से सीधी करके)—सीधी तो है। और कैसे करूँ सीधी ?

रामधन—अभी तो की सीधी, पहले कहाँ थी सीधी ?

भैरूँ—मङ्गल जी, लड़ के आए क्या घर से ? यों बात-बात पर तेवर काहे को बदल रहे हो ?

मङ्गल—दीवान जी की तो रीत ही न्यारी है। एक कोई साधू आए हैं, उनके लिए घर ही सर पर उठा रहे हैं। कोई चमत्कारी बाबा हो तो कोई बात भी हो। न जटा न जूट, बने हैं साधू ! सैकड़ों साधू देखे हैं, पर इन-सा तो नहीं देखा।

भैरूँ—हाँ, मैं भी देखने गया था। न किसी को जड़ी दी, न बूटी, न भस्मी। बस खाली सूरत ही देखने को है।

मङ्गल—थोड़े दिनों पहिले हमारे गाँव में एक फकीर आए थे। दिन-रात गाँजे की धुन में पड़े रहते थे। चिलम डेढ़ हाथ की थी। भगत आया, ज़रा सी असीस दी कि मनोरथ पूरा। मरते आदमी को भस्मी देकर जिला दें ऐसा था परताप।

भैरू—(हँसते हुए)— और ऐसे साधू को दीवान जी मिला रहे हैं दरबार से। अरे, दरबार जैसे नास्तिक मानेंगे इनको? कोई बड़ा चमत्कारी बाबा हो तो कोई बात भी हो।

रामधन—पर सुना है बाबा जी खूब पढ़े-लिखे हैं। अंग्रेजी फटाफट बोलते हैं।

मंगल—(जोर से हँसकर)—अरे वाह रे, खूब कही! अंग्रेजी फटाफट बोलते हैं! अरे अंग्रेजी तो कोतवाल साहब का छोरा भी बोल ले। पर उसका क्या असर पड़े दरबार पर? खेल-तमाशा थोड़े ही है।

रामधन—(सर खुजलाकर)— हाँ, बात तो ठीक ही है।

मंगल—चलो जी, कोई बात नहीं। तमाशा ही देखेंगे। दरबार जब सवाल-जवाब करेंगे, तब आएगा मजा। दरबार तो बड़ों-बड़ों की सिट्टी-पिट्टी गुम कर देते हैं। इनकी तो बात ही क्या?

रामधन—वैसे भाई, सकल देखते ही सर झुकता है।

मंगल—झुकता होगा तेरे-जैसों का। तूने दुनियाँ देखी ही कहाँ?

(दीवान जी का प्रवेश। सब एकदम सावधान हो जाते हैं और व्यस्त होकर काम करने लगते हैं।)

दीवानजी— अरे, अभी तो तुम लोग कमरा ही पूरा ठीक नहीं कर पाए। जल्दी करो, जल्दी !

मंगल— बस हुक्म, हुआ ही जाता है।

(सब ठीक करने लगते हैं। दीवान जी भी सहायता करते हैं। तीनों नौकर आश्चर्य चकित हो जाते हैं।)

भैरूँ— अन्नदाता, आप रहने दीजिये। हम कर लेंगे।

(दीवान जी कोई कान नहीं देते हैं। डा० गुरुचरण का प्रवेश।)

दीवानजी— आइये गुरुचरण जी, आइये। बड़ी सुबह-सुबह ही पधार गये। अस्पताल में आज मरीज कम थे क्या ?

डा० सा०— अरे साहब, ऐसी बात नहीं। सुबह घूमने निकला तो सोचा स्वामीजी से भी मिलता चलूँ।

दीवानजी— (मुसकराकर)—क्यों, स्वामी जी क्या मरीज हैं जो सुबह - सुबह देखने की आपको जरूरत पड़ गई ? अरे घबराइये नहीं, स्वामीजी मेरे पास बिल्कुल सकुशल हैं। उन्हें कोई भी कष्ट नहीं होने दे रहा हूँ।

डा० सा०— अरे नहीं, नहीं। ऐसी बात नहीं। दीवान जी,

अब तो स्वामीजी से इतना लगाव हो गया है कि थोड़ी देर नहीं देखता हूँ तो बस लगता है कोई प्रियजन बिछुड़ गया है।

दीवानजी — हाँ, भाई, बात ऐसी ही है। वे सबको अपना ही बना लेते हैं। (दीर्घ निःश्वास लेकर) सोच रहा हूँ, जब चले जाएँगे तब क्या हाल होगा ?

डा० सा०— उनकी बात सुनकर रात को नींद नहीं आती। सारी रात कानों में उनकी वाणी गूँजती रहती है। लगता है। हृदय- मस्तिष्क पर विद्युत- तरंगे बह रही हों। सारी चेतना पर उन्हीं की वाणी छा गई है! वाणी क्या है विद्युत है।

दीवानजी— डाक्टर, बिल्कुल यही हाल मेरा भी है। हृदय में उथल-पुथल मची हुई है। कैसी अजीब - सी अनुभूति है। समझा नहीं सकता। पता नहीं क्या होता जा रहा है मुझे।

(मंगल मुँह विचका कर हँसता है।)

डा० सा०—लगता है स्वयं भगवान् अवतार लेकर अमृतवाणी सुना रहे हैं हमारे देश को। दीवान जी, अब हमारा देश जागेगा। विदेशी शासन दूर होगा।

(इंजीनियर का प्रवेश।)

दीवानजी—आओ, शंभुनाथ जी। बिराजो। क्या स्वामी जी से मिलने ?

इंजीनियर—हुक्म, बस यही बात है। पहले आने से थोड़ी धर्म-चर्चा हो जाएगी इसीलिये चला आया।

दीवानजी—बहुत अच्छा किया।

(तीन अमीरों का प्रवेश। झुककर मुजरा करते हैं।)

दीवानजी—आइये पंडित जी, आइये रावजी। बिराजिये। (आसन की ओर इसारा करते हैं।) बड़ी मेहरबानी की आप लोगों ने। जल पीजिएगा ? अरे रामधना, पानी तो ले आ।

सब—बस-बस, ठीक है। तकलीफ न करिये। सब ठीक है।

राव साहब—दीवान जी, अपने भानजे को भी ले आया हूँ दर्शन कराने। ऐसे महापुरुष की तो जो बात सुन लेगा वही तर जाएगा।

दीवानजी—बड़ी मेहरबानी की।

पंडितजी—महाराज साहब यहीं भेंट करेंगे न स्वामी जी से ?

दीवानजी—जी हाँ, पंडित जी।

पंडितजी—(दीर्घ निःश्वास लेकर)—चलो, इनका उपदेश सुनकर महाराज के मन में धर्म के प्रति कुछ श्रद्धा जागे तो ठीक है। वरना……

डा० सा०—(बात काटकर)—मुझे विश्वास है, महाराज का मन स्वामीजी जरूर बदलेंगे।

रावजी—बहुत साधु-सन्त देखे हैं पर इन-सा नहीं। न किसी धर्म की बुराई, न किसी मतवाद की निन्दा, न

किसी सम्प्रदाय से घृणा। बस अपने ही तरीके से धर्म को सत्य सीधी बातों को समझा देना। इतने उदार विचार कहाँ देखने को मिलते हैं?

पंडितजी—साधू हो तो ऐसा हो। जाति-पाँति, ऊँच-नीच, ज्ञानी-अज्ञानी का कोई भेद ही नहीं। एकदम सम-दृष्टि। मौलवी साहब ने भोजन के लिये निवेदन किया तो उन्हीं के यहाँ भोजन कर आए—भक्त का दिल रखने के लिये।

रावजी—हाँ, और लोगों ने आपत्ति की तो बोले, "मैं संन्यासी हूँ, सभी सामाजिक आचार-व्यवहार से परे हूँ। मैं एक मेहतर के साथ भी बैठकर भोजन करता हूँ। यह तो ईश्वर का निर्देश है अतः मैं निर्भय हूँ! शास्त्र का मुझे डर नहीं; क्योंकि शास्त्र तो इसका समर्थन करता है। भय तो मुझे आप-जैसे अंग्रेजी जाननेवालों से है, जो शास्त्र और ईश्वर कुछ नहीं मानते। मैं सर्वभूतों में ब्रह्म का ज्ञान रखता हूँ। मेरे लिये ऊँच-नीच, स्पृश्य-अस्पृश्य क्या है?"

डा० सा०—इनके लिये तो मानव मात्र एक है। मानव-प्रेम का सन्देश लेकर आये हैं। एक युग में गौतम आए थे, इस युग में ये आए हैं।

(मौलवी साहब का प्रवेश।)

दीवानजी—अरे आइये मौलवी साहब, पधारिये। बस

आप ही की बात हो रही थी। बड़ी लम्बी उम्र है।

मौलवी—मेहरबानी आपकी। मेरी क्या बात ?

पंडितजी—उस दिन स्वामीजी ने आपके घर भोजन किया न, उसी बारे में बात हो रही थी।

मौलवी—पंडितजी, मैंने तो कभी ख्वाब में भी सोचा न था कि मेरा नसीब ऐसा होगा। सचमुच ज़िन्दगी सफल हो गई ऐसी खुशनसीबी से। इसी दिन के लिये खुदा ने मुझे बनाया था। हिन्दू होकर कुरान का ऐसा ज्ञान! कभी सोचा भी न था।

डा० सा०—इतना ज्ञान है तभी तो कितनी सरलता से कठिन से कठिन बात की व्याख्या कर देते हैं।

इंजीनियर—किसी ने यों ही कौतूहलवश पूछ लिया, "बाबाजी आप गेरुआ क्यों पहने हुए हैं ?" और कोई होता तो गेरुए रंग की महिमा समझाने लगता। पर वे बोले, "क्योंकि गेरुआ भिक्षुकों का वस्त्र है। यदि मैं साधारण व्यक्तियों की तरह वस्त्र पहनूँ तो दरिद्र भिक्षुकगण मुझे धनवान समझकर भीख माँगने लगें। माँगने वालों को निराश करने में मुझे बहुत कष्ट होता है। मेरा गेरुआ वसन देखकर वे मुझे भिक्षुक समझ कर मुझसे भिक्षा न माँगेंगे।"

(नौकर दौड़कर आता है।)

नौकर— दीवानजी, दरबार पधार रहे हैं।

(दीवान जी दौड़कर बाहर जाते हैं और कुछ क्षणों में
महाराज को लेकर लौटते हैं। सब उठकर अभि-
वादन करते हैं। महाराज बीच में आसन
ग्रहण करते हैं। अन्य व्यक्ति भी
अपनी-अपनी जगह लेते हैं।)

दीवानजी— (हाथ जोड़कर)— अन्नदाता, इस गरीबखाने में पधार कर आपने मुझे धन्य कर दिया। हुक्म, यदि आज्ञा दें तो कुछ अर्ज करूँ।

महाराज— हाँ, हाँ, कहो क्या बात है ?

दीवानजी— अन्नदाता, अलवर में एक महात्मा आए हुए हैं। पहले डा० गुरुचरण जी के घर पर ठहरे हुए थे पर उनकी विद्वता से खिंचकर इतने लोग आने लगे कि इंजीनियर शंभुनाथजी ने उनके ठहरने का प्रबन्ध अपने यहाँ कर दिया था। आजकल वे मेरे यहाँ ठहरे हुए हैं। अंग्रेजी पर तो उनका इतना अधिकार है कि मैं विस्मित हूँ। धर्म के विषय में उनकी बातें कुछ नवीन प्रकार की ही लगती हैं। इतना बड़ा ज्ञानी पुरुष मैंने आज तक नहीं देखा। अगर आज्ञा दें तो उन्हें यहाँ आप से मिलाऊँ।

महाराज— साधु महात्मा को मिलाएँगे मुझसे ? (हँसकर) खैर, जब यहीं हैं तो मिलने में क्या हर्ज है।

(दीवान नौकर को इशारा करते हैं ।)

दीवानजी— महाराज उनसे वार्तालाप करके आपका चित्त प्रसन्न हो जाएगा ।

महाराज सिर हिलाकर अवज्ञा से हँसते हैं ।)

(एक-दो सेकण्ड की निस्तब्धता के पश्चात् स्वामीजी का प्रवेश । उनकी ज्योतिर्मयी छवि देख सब हड़बड़ा कर उठ खड़े होते हैं । स्वामीजी आकर महाराज के सम्मुख खड़े होते हैं । महाराज अपने को खड़ा पाकर लज्जित-से होते हैं ।)

महाराज— बाबाजी, आसन ग्रहण कीजिए ।

(स्वामीजी और महाराज बैठते हैं । अन्य सभी व्यक्ति उनका अनुकरण करते हैं । केवल दीवान खड़े रहते हैं ।)

दीवानजी— स्वामीजी, ये हैं हमारे अन्नदाता अलवर-नरेश श्री श्री मंगलसिंह जी महाराजा साहिब ।

(स्वामीजी मुसकराकर महाराज की तरफ देखते हैं । महाराज नमस्कार करते हैं ।)

महाराज – बाबा जी, आप के बारे में अब तक सुन रहा था । आज देखने का भी सौभाग्य मिला ।

स्वामीजी—मुझे भी बड़ी खुशी हुई आपसे मिलकर ।

महाराज—बाबाजी, सुना है आप धुरन्धर पण्डित और एक बड़े विद्वान् हैं । आप यदि चाहें तो प्रचुर धन उपार्जन कर सकते हैं, फिर भी आप ने भिक्षा-बृत्ति का अवलम्बन क्यों किया ?

स्वामीजी—महाराज, मेरे भी एक प्रश्न का उत्तर दीजिए। आप तो राजा हैं, फिर राज-कार्य न करके क्यों साहबों के साथ शिकार आदि व्यर्थ के आमोद-प्रमोद में अपना समय बिताते हैं?

(सारी सभा में एक निस्तब्धता छा जाती है।)

महाराज—हाँ करता तो हूँ पर क्यों यह ठीक नहीं बता सकता हूँ। (रुककर) इतना जरूर कह सकता हूँ कि वह मुझे अच्छा लगता है।

स्वामीजी—(हँसकर)—बस यही कारण मेरे साथ भी है। मुझे भी फकीर-वेश में घूमना-फिरना अच्छा लगता है। मुझे इसी में शान्ति मिलती है। लेकिन महाराजा, मेरे आनन्द में कर्तव्य भी है। अर्थोपार्जन करके मैं केवल अपने छोटे से परिवार की ही सहायता कर सकता था पर आज मेरा परिवार बहुत बड़ा है। मैं यों घूम-फिर कर ही सब की सहायता कर सकता हूँ।

महाराज—ठीक है, पर मुझे राज्य के नीरस कार्यों में कोई रुचि नहीं आती।

स्वामीजी—राजा साहब, ईश्वर ने आपके कन्धों पर जो कार्य-भार दिया है, उसे तो निभाना ही पड़ेगा। उसी को हृदय से कीजिए कर्तव्य समझ कर। (दृढ़ता से) जरूर रुचि आएगी।

महाराज—यह तो ठीक है। (हँसकर) लेकिन बाबाजी

महाराज, यह तो बताइये, मुझे इन देवी-देवताओं की मूर्तियों पर तनिक विश्वास नहीं इसलिये मेरी क्या दुर्गति होगी ?

स्वामीजी—क्या कह रहे हैं आप ? आपको देवी-देवताओं की मूर्तियों पर विश्वास नहीं ! क्या महाराज मेरे साथ हँसी कर रहे हैं ?

महाराज—(गम्भीर होकर दृढ़ता से)—नहीं-नहीं, बाबाजी, हँसी नहीं। वास्तव में मैं पत्थर, माटी, लकड़ी या धातु की मूर्तियों को अन्य साधारण लोगों की भाँति श्रद्धा नहीं कर सकता। क्या इसलिये मुझे परलोक में कोई कठिन सजा भुगतनी पड़ेगी ?

स्वामीजी—मैं तो समझता हूँ, धर्म की बातों में अपने आदर्शों और श्रद्धा के अनुसार ही चलना चाहिये। अपने विश्वास के अनुसार उपासना करने पर परलोक में सजा क्यों मिलेगी ? मूर्ति पूजा में विश्वास नहीं है तो कोई बात नहीं।

(सब एक दम निराश-से हो जाते हैं। काना-फूसी होने लगती है।)

रावजी—(धीरे से)—अरे इन्होंने तो बात यहीं खत्म करदी ! मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में कोई दलील भी नहीं पेश की।

पंडितजी—(दुःख से)—यही स्वामीजी श्रीबिहारी जी के मन्दिर में भावावेश में आँखों से आँसू बरसाते

हुए गिरते हैं। इन्होंने इतनी सरलता से महाराज की दलील को मान लिया ! सोचा भी नहीं था।

(मंगल मुँह बिचकाता है।)

स्वामीजी—दीवानजी, वह तस्वीर महाराजा साहब की है न ? उसे जरा इधर दीजिएगा।

(दीवानजी मंगल और भैरूँ के संग व्यस्त होकर तस्वीर उतारते हैं।)

स्वामीजी—(सभासदों से)—यह महाराज साहब की तस्वीर है न ?

सब—(आश्चर्य से)—जी हाँ !

स्वामीजी—(चित्र को भूमि पर रखकर)—अच्छा दीवानजी, इस पर थूकिये।

(सारी सभा सन्न रह जाती है। दीवानजी विमूढ़ की तरह स्वामीजी का मुँह ताकते हैं।)

स्वामीजी—आप लोगों में से कोई भी इस पर थूक सकता है। क्या है इसमें ? यह एक कागज का ही तो टुकड़ा है। थूकिये, (रुककर) कोई भी थूकिये।

(सन्नाटा और गहरा हो जाता है। अंग रक्षक उत्तेजना से तलवार की मूठ पर हाथ रखते हैं। दीवानजी और गुरु चरण भयभीत होकर व्यस्त हो उठते हैं। केवल स्वामीजी निर्भय मुसकराते हैं।)

स्वामीजी—क्या है ? आप लोग हिचकिचा क्यों रहे हैं ?

रावजी— स्वामीजी यह तो हमारे महाराज साहब की तस्वीर है। इस पर हम कैसे थूक सकते हैं ?

स्वामीजी—महाराज साहब की तस्वीर होने से इसमें क्या आगया ? इसमें महाराज स्वयं तो उपस्थित नहीं हैं। यह तो सिर्फ एक कागज का टुकड़ा है। यह न तो महाराज की तरह हिल-डुल सकता है, न बातचीत कर सकता है।

(सब निरुत्तर रहते हैं।)

स्वामीजी—क्या हुआ ? (हँसकर) मैं जानता था आप लोग ऐसा नहीं कर सकेंगे। आप लोग समझते हैं ऐसा करने से महाराज के प्रति असम्मान होगा। (महाराज की ओर देखकर) देखा महाराज ! एक दृष्टि में इसमें आप है, दूसरी में आप नहीं भी हैं। ये लोग जो सम्मान आपको देते हैं, वही आप के चित्र को भी देते हैं। यह आपकी छायाकृति है, इसे देखते ही आपके अनुगत अधिकारियों को आपकी याद आती है। ठीक इसी प्रकार मूर्ति वगैरह के बारे में भी समझना चाहिये। मूर्ति इष्ट का स्मरण करा देती है और इष्ट में भावमग्न होने में सहायता करती है। वह तो पूजा का एक अवलम्बन मात्र है। मैंने आज तक किसी हिन्दू को यह कहते नहीं सुना, "हे पत्थर, मैं तुझे पूज रहा

हूँ ! हे धातु, मुझपर दया कर !" ईश्वर तो मनुष्य की बुद्धि और श्रद्धानुसार उसके पास प्रकट होते हैं। उन्हीं एक अनन्त भावमय भगवान् की, जो सभी के उपास्य और सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, भक्तगण अपने भाव के अनुसार विभिन्न प्रकारों से उपासना करते हैं।

(सारी सभा 'धन्य-धन्य कह उठती है।)

महाराज—स्वामीजी, आपकी कृपा से आज मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में एक नवीन अभिज्ञता हुई। वास्तव में, आपकी दृष्टि से देखा जाय तो आज तक लकड़ी या पत्थर का उपासक नहीं देखा। इतने दिनों तक मैंने मूर्तिपूजा का ऐसा गूढ़ अर्थ नहीं सुना था। आज आपकी व्याख्या सुन मैं धन्य हुआ। स्वामीजी, कृपा करके मुझे आशीर्वाद दीजिए।

(राजा घुटनों के बल बैठते हैं।)

स्वामीजी—(सिर पर हाथ रखकर)—एकमात्र ईश्वर के अलावा किसे कृपा करने का अधिकार है ? सरल शुद्ध भाव से उन्हीं की शरण लीजिए। वे अवश्य ही आप पर कृपा करेंगे।

(पर्दा गिरता है।)

———

वशिष्ठ गुफा के योगी

(एक साधक की डायरी से)

मार्च का महीना था। मैं साधना करने के उद्देश्य से ऋषीकेश-स्थित स्वर्गाश्रम में निवास कर रहा था। राजयोग के सम्बन्ध में मैंने कई ग्रन्थ पढ़े तो थे, पर उसकी साधना का अवसर प्राप्त नहीं हो सका था। ग्रन्थों में पढ़ा था कि योग्य गुरु की प्रत्यक्ष देख-रेख में ही योग की साधना करनी चाहिए, अन्यथा प्रतिकूल परिणाम की सम्भावना रहती है। इसलिए प्राणायाम की सरल क्रियाओं को करता हुआ ईश्वर की कृपा की आस लगाये बैठा था कि मुझे मार्गदर्शन मिल जाय। मेरी यही इच्छा मुझे स्वर्गाश्रम की ओर खींच ले गयी थी। कई नामधारी महात्माओं से मिला, पर कुछ दिन उनके सान्निध्य में बिताने पर मालूम पड़ता कि यहाँ अभिलाषा पूर्ण न हो सकेगी। मैं कुछ निराश भी हो चला था कि अचानक एक दिन मैंने वशिष्ठ गुफा के योगी की बात सुनी। आशाजनक बात थी वह। सुना कि उनका नाम स्वामी पुरुषोत्तमानन्द है और लोकैषणा से दूर, वे वशिष्ठगुफा में रहकर योग-साधना में निमग्न रहा करते हैं।

बस, क्या था; निकल पड़ा। वशिष्ठ गुफा ऋषीकेश से लगभग १५ मील दूर है। देवप्रयाग की ओर जानेवाली पक्की सड़क से जाना पड़ता है। बस वालों से वशिष्ठ गुफा

का नाम बता देने पर वे वहीं उतार देते हैं। वहाँ से पहाड़ के नीचे उतरना पड़ता है। गंगाजी के किनारे वह गुफा अवस्थित है। सड़क से थोड़ा आगे जाकर ऊपर की ओर वशिष्ठ गुफा का विद्यालय है और साथ ही पोस्ट आफिस। गुफा से विद्यालय तक की दूरी लगभग ६ फर्लांग पड़ जाती होगी। चारों ओर बियावान जंगल है-जंगली जानवरों से भरपूर। पास में कोई गाँव भी नहीं है।

मैं दोपहर के समय वशिष्ठ गुफा पहुँचा। बड़ी विशाल गुफा है वह। पुराणों में इसका उल्लेख आया है। पुराणों के अनुसार तो गुफा चौदह मील लम्बी थी, पर अभी वह इतनी लम्बी नहीं है। अब तो मुश्किल से चार फर्लांग होगी। किन्तु इसका बहुतसा हिस्सा आर्द्रता के कारण बन्द कर दिया गया है। सामने की चौड़ाई भी उल्लेखनीय है। अब आश्रमवासियों ने गुफा को जो रूप दे दिया है, उसमें अनायास पचास व्यक्ति सो-बैठ सकते हैं। गुफा के द्वार में कोई फाटक या दरवाजा नहीं हैं। आश्रमवासियों से सुना कि स्वामी पुरुषोत्तमानन्दजी लगभग चालीस वर्ष से वहीं हैं। उस समय गुफा और चारों ओर का दृश्य और भी भयानक था। साँप और बिच्छू तो मैं गया तब भी बहुत थे। चालीस वर्ष पहले का क्या पूछना! स्वामीजी प्रारम्भ में अकेले ही रहे। उनके सम्बन्ध में जो जानकारी मुझे आश्रमवासियों से प्राप्त हो सकी, वह संक्षेप में इतनी ही है कि उन्होंने दक्षिण भारत के प्रदेशों में कई स्थानों पर श्रीरामकृष्ण आश्रम की स्थापना की। इन्होंने रामकृष्ण मठ व मिशन के प्रथम अध्यक्ष

श्रीमत्स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज से मंत्र-दीक्षा ली थी और बाद में मिशन के द्वितीय अध्यक्ष श्रीमत्स्वामी शिवानन्दजी (महापुरुष) महाराज से संन्यास-दीक्षा लेकर ये हिमालय की इस गुफा में साधनामय जीवन बिताने चले आये। उस समय पुरुषोत्तमानन्दजी की आयु लगभग चालीस वर्ष की थी। किन कठोरताओं में से उनका जीवन बीता है, इसका वर्णन कर पाना सम्भव नहीं है। उस समय आज के समान बनी-बनायी सड़क नहीं थी। पैदल का मार्ग था, जो अत्यन्त दुस्तर था और नदी के उस पार से चलता था। यही वह पैदल मार्ग था जिस पर से उस समय के लोग बदरी-केदार की यात्रा करते थे और आज भी आपको कई ऐसे भावुक एवं तपस्याप्रिय जन मिलेंगे, जो इसी रास्ते से बदरी-केदार की यात्रा करना पसन्द करते हैं।

हिमालय की तराई अजगर, रीछ, जंगली हाथी और तेंदुओं के लिए प्रसिद्ध है। स्वामी पुरुषोत्तमानन्दजी को बहुधा इनका सामना करना पड़ता। जैसा कहा जा चुका है, गुफा के द्वार में कोई फाटक तो था नहीं, अतः कई बार ऐसा हुआ कि रात्रि में वर्षा के थपेड़ों से बचने के लिए वन्यपशु गुफा के भीतर स्वामीजी के समीप ही जा बैठते। पर ऐसा कभी न हुआ कि वन्य पशुओं ने स्वामीजी को किसी प्रकार की हानि पहुँचायी हो। भिक्षा के हेतु भी स्वामीजी को बड़ी कठिनाई उठानी पड़ती थी। जब अनाज चुक जाता, वे ऋषीकेश की ओर निकल जाते और एक-डेढ़ महीने के लिए एक साथ भिक्षा ले आते। उन्होंने वहाँ के अपने प्रारम्भिक

दिनोंमें उस अंचल की दरिद्रता और अज्ञानता देखी। उदार-चेता इस संन्यासी का हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने एक पाठशाला खोल दी, जहाँ पहाड़ी बालकों को, समय निकाल-कर, वे शिक्षा दिया करते। आज उस पाठशाला ने बड़ा रूप धारण कर लिया है। स्वामीजी ने अब उसे प्रान्तीय शासन को सौंप दिया है।

मैं जब वशिष्ठ गुफा पहुँचा, तब स्वामीजी अस्सी वर्ष के हो चुके थे, अर्थात् वहाँ रहते उन्हें दीर्घ चालीस वर्ष बीत चुके थे। आश्रमवासियों से उपर्युक्त जानकारी प्राप्त कर मैं स्वामीजी के दर्शन करने के लिए अधिक आतुर हो उठा। आश्रमवासियों ने बताया कि लगभग तीन बजे वे इस गुफा में अपनी कुटी से आते हैं और आश्रमवासियों को धर्म-शास्त्रों का अध्ययन कराते हैं। लगभग तीन वर्ष पूर्व तक स्वामीजी गुफा में ही निवास करते थे। अपने समीप किसी सेवक या शिष्य को अधिक दिन नहीं रखते थे। जो भी उनके पास साधना की यथार्थ इच्छा लेकर पहुँचता, उसे वे कुछ समय साथ रखकर साधना के सम्बन्ध में मार्ग-दर्शन करते और बाद में उत्तरकाशी-स्थित अपने 'मंगल-आश्रम' में कठोरतर साधना के लिए भेज देते। स्वामीजी एकाकी साधना पर अधिक बल देते थे। तीन वर्ष से उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं रह पाता था। वृद्ध शरीर कितना सहे! जलवायु के परिवर्तनों से वह आक्रान्त हो जाता था। एक तो वैसे ही गुफा में बड़ी नमीं थी। स्वामीजी गठिया से पीड़ित हो गये। भक्तों ने जोर दिया कि स्वामी जी के लिए अलग पक्की कुटी

बना दी जाय, जिससे गठिया अधिक पीड़ा न दे। भक्तों के अत्यन्त अनुरोध करने पर अन्त में स्वामी जी मान गये। उनके लिये गुफा के सामने ही कुछ ऊँचाई पर एक पक्की कुटी बना दी गयी—दो मंजिलों की। नीचे की मंजिल में दो कमरे हैं, जिनमें आगन्तुक दर्शनार्थी जन रहा करते हैं। ऊपर की मंजिल में स्वामीजी का निवास स्थान रखा गया। अब भक्तों ने प्रार्थना की कि स्वामीजी कुछ लोगों को अपने समीप ही रहने दें, जिससे उनकी देख-भाल और सेवा में सुविधा हो सके। स्वामीजी ने यह भी प्रार्थना स्वीकार कर ली। तब से आश्रम में पाँच-छः सेवकों का स्थायी निवास होने लगा। स्वामीजी भी अब इन लोगों को शास्त्राध्ययन कराने तथा साधनामय जीवन में प्रवृत्त करने के लिए अधिकाधिक प्रयत्न करने लगे।

आश्रम के व्यवस्थापक ने पक्की कुटी के नीचे के एक कमरे में मेरी व्यवस्था कर दी। मैं अधीर होकर तीन बजने की प्रतीक्षा करने लगा। अन्त में सौभाग्य की वह घड़ी उपस्थित हुई। स्वामीजी के कमरे के द्वार खुले। देखा, सामान्य कद के एक पुरुष को, जिनकी श्वेत दाढ़ी हवा में लहरा रही थी। मुखमण्डल पर दैवी आभा और अधरों पर स्मित हास्य। उनकी हर क्रिया ही गीतोक्त यज्ञ-भाव से उद्दीप्त।

पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन्।
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन् उन्मिषन् निमिषन् अपि॥

—उनका देखना, सुनना, छूना, सूँघना, खाना, चलना,

सोना, साँस लेना, बातचीत करना, छोड़ना, ग्रहण करना, पलकों का खोलना और गिराना—सब कुछ मानो यज्ञमय था।

मैं मूक हो गया। चक्षु निस्पन्द हो गये। उनके गुफा के समीप आते तक मैं हाथ जोड़े उनकी ओर टकटकी बाँधे खड़ा रहा। मेरे प्रणाम करने पर उन्होंने परिचय पूछा। मैंने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया और उनके पास कुछ दिन रहने की अनुमति माँगी।

"कुछ दिन क्यों?" उन्होंने मेरी ओर स्नेहपूर्ण दृष्टि से कहा, "यहीं न रह जाओ? आश्रम का सर्वेसर्वा बनकर? मुझे बस एक मुट्ठी खिला दिया करना!"

मैं तो स्तम्भित रह गया। कहाँ मैं उनके लिए सर्वथा अपरिचित और कहाँ उनकी यह उदारता! उनका स्नेह पाकर मैं अपने को धन्य समझने लगा। ऐसा लगा कि इस व्यक्ति से मेरी चिरपोषित अभिलाषा पूरी हो सकती है।

शास्त्र-पाठ चलने लगा। उस समय योगवाशिष्ठ लिया जा रहा था। स्वामीजी की व्याखया अपूर्व थी। वे अधिक तो न बोलते थे, पर अपनी टूटी-फूटी हिन्दी में जो भाव उड़ेल देते, वह शब्दों से कहीं अधिक मुखर था। यहाँ मुझे उस सत्य की प्रतीति हुई—'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानम्'। जो सत्यद्रष्टा ऋषि है, जिसने शास्त्र-मर्म की अनुभूति कर ली है, उसे अपने भाव को व्यक्त करने के लिए सुन्दर वाक्य-विन्यास का सहारा नहीं लेना पड़ता। ऐसा व्यक्ति भले ही व्याकरण-सम्मत भाषा न बोले, विविध प्रकार की व्याख्याएँ

न प्रस्तुत कर सके, पर वह जो कुछ टूटी-फूटी भाषा में बोलता है, वह सीधा हृदय पर अपना प्रभाव डालता है, क्योंकि उसके शब्दों में उसकी अनुभूति की शक्ति समायी होती है। उस दिन मुझे एक ही घंटे के सान्निध्य से योगवाशिष्ठ के प्रति एक नया दृष्टिकोण प्राप्त हुआ—उसके गूढ़ अर्थ को समझने की एक नयी दिशा मिली।

शास्त्र-पाठ समाप्त हुआ। स्वामीजी ने मुझसे दो-चार प्रश्न और पूछे और कुछ दिन इसी प्रकार बिताने के लिए कहा। अवसर देखकर मैंने उसी दिन सन्ध्या उनके समक्ष अपनी चिरकांक्षित अभिलाषा रखी। मैंने बताया कि मैं योग-साधना करना चाहता हूँ और उनका नाम सुनकर आया हूँ। वे हँसकर बोले, "अफवाहों में क्या हरदम सत्यता होती है?" मैं न समझ पाया। यह देखकर उन्होंने कहा, "यह जो तुम मेरा नाम सुनकर आये हो, तो कैसे विश्वास कर लिया कि मैं सचमुच योग-मार्ग का पथिक हूँ? लोग तो बहुत सी बातें उड़ा दिया करते हैं। यह भी उनमें से एक है। मैं तो केवल एक साधक हूँ। दूसरों को सिखाना मेरे बस की बात नहीं है। ठाकुर (श्रीरामकृष्ण) की वह बात क्या पढ़ी नहीं? वे कहते थे—दो प्रकार के लोग होते हैं। एक तो पानी में तैरते काठ के टुकड़े की नाईं होते हैं। यदि एक पक्षी भी उस पर बैठ जाय तो वह जल में डूब जाता है। दूसरे होते हैं काठ के डोंगे की तरह। स्वयं भी पार उतरते हैं और कई लोगों को भी पार उतार देते हैं। मैं तो पहली किस्म का हूँ—काठ के टुकड़े की तरह। हाँ, यदि यहाँ के

वातावरण से लाभ उठाना चाहो, तो सुविधा बहुत है। एकांत विजन स्थान है, ऋषीकेश की हलचल भी यहाँ नहीं है, प्रभु की कृपा से एक समय के भोजन का भी ठिकाना है। जो गुरु-मंत्र तुमने पाया है, बस लग जाओ उसी की साधना में।"

सुनते ही हृदय बैठ गया। मैं आया था योग साधना की विशेष इच्छा लेकर, और यहाँ मन के अनुरूप फिर बात जमती नहीं दिखी। सामान्य कुछ वार्तालाप करके मैं प्रणाम कर उठ गया। नीचे आया। कुछ ही गज की दूरी पर भागीरथी बह रही थी। एक शिलाखण्ड पर अवसन्न मन ले बैठ गया और सोचने लगा कि अब क्या किया जाय। इतने में स्वामीजी के एक प्रमुख शिष्य उस ओर आये। उन्होंने मुझे खिन्न देखकर कारण पूछा। मैंने स्वामीजी से हुई सारी बातें बता दीं। उन्होंने आश्वासन देते हुए कहा, "निराश मत होओ! महाराज इसी प्रकार परीक्षा लेते हैं। जो भी यहाँ साधना के लिए आता है, उससे वे इसी प्रकार कहते हैं। बहुत से लोग तो चले जाते हैं, पर जो उन्हें किसी प्रकार नहीं छोड़ते, उन्हें पकड़े रहते हैं, उन्हें अन्त में वे गूढ़ योग की शिक्षा देते हैं। तुम उनके पीछे लगे रहो। तुम्हारी इच्छा अवश्य पूर्ण होगी।"

निराशा के बादल छँट गये। आशा की सुनहली किरण हृदय में उतरी। मैं वहाँ के परिवेश से अपरिचित था, अतः सब कुछ नया-नया था। धीरे-धीरे रात उतरी। आश्रमवासी अपनी-अपनी साधना में लग गये। मैं भी अपने कमरे में चला आया। व्यवस्थापक ने हिदायत दे दी थी कि मैं अँधेरे

में कहीं न निकलूँ। एक लाठी और लालटेन मेरे कमरे में उन्होंने रखवा दी और मुझे बताया कि बाहर निकलने पर लाठी से धरती को ठोकता हुआ चलूँ और लालटेन साथ रखूँ। लाठी की ठक-ठक से सर्प आदि रास्ते से हट जायेंगे और लालटेन साथ रहने से वन्य पशु पास न फटकेंगे।

इस प्रकार घने जंगल के बीच मेरी यह पहली रात्रि थी। वन्य पशुओं की आवाजें उस अनन्त शून्य और निस्तब्ध मौन को भेद रही थीं। मेरा हृदय रह-रहकर डर के मारे काँप रहा था। न जाने कितनी अनचीन्ही ध्वनियाँ मेरे कर्णरन्ध्रों में प्रवेश कर रही थीं—बड़ी डरावनी आवाजें थीं वे। कभी-कभी चीतों और लकड़बग्घों का गुर्राना और गर्जन भी सुनायी पड़ता था। डर के मारे मेरा बुरा हाल था। नींद आ ही नहीं रही थी। यद्यपि मैंने भीतर से दरवाजा अच्छी तरह बन्द कर लिया था, पर ऐसा लगता मानो अभी ही कोई वन्य पशु खिड़की से झाँक गया है। इसी बीच मालूम नहीं कब मेरी आखें झपक गयीं। अचानक एक विचित्र आवाज से मैं जाग उठा। धड़कते हृदय से मैंने खिड़की से देखा कि आखिर आवाज आ कहाँ से रही है। देखता क्या हूँ कि दो भालू गंगा के तीर पर झगड़ रहे हैं। चाँदनी रात थी, इसलिये बाहर सब साफ दिखायी पड़ रहा था। अपनी पिछली दो टाँगों के बल खड़े हो दोनों कुछ देर तक मुक्का-मुक्की सरीखा कुछ करते और लड़कर गंगा के जल में कूद पड़ते। पानी से निकल कर फिर लड़ने लगते। पता नहीं, उनका यह क्रम कब तक चला। मैं थोड़ी देर भालुओं का

लड़ना देखकर सो गया।

सुबह कुछ देर से उठा। रात्रि की भयावनी स्मृतियाँ एक-एक करके स्मृति पटल पर आने लगीं। मैं तो कमरे के अन्दर बन्द था, पर आश्रमवासी मानो प्रकृति माता की निश्छल गोद में बिना किसी दरवाजे के पड़े रहते थे। सुबह मैंने व्यवस्थापक स्वामीजी से पूछा, "आप लोगों को डर नहीं लगता? मैं तो कल रात बुरी तरह डर गया था।" उन्होंने हँसते हुए कहा, "इस प्रकार डरने से साधना कैसे होगी? आप क्या यहाँ रह सकेंगे?" मैं बोला, "मैदान से आया हूँ। यही पहाड़ पर मेरा प्रथम अवसर है। अतः भय स्वाभाविक है। पर मुझे भी यहाँ रहने का अभ्यास हो जायगा।"

उस दिन मैंने पुनः स्वामी पुरुषोत्तमानन्दजी के समक्ष योग साधना के सम्बन्ध में अपनी प्रार्थना दुहराई। मेरे बारम्बार अनुरोध करने पर, मेरी लगन देखकर वे अन्त में सहमत हो गये। उन्होंने पूछा "किस गुफा में रहना चाहोगे—डबल-सीटेड में या सिंगल-सीटेड में?" मैं उनके कथन का तात्पर्य नहीं समझ सका। तब मुझे बताया गया कि विशाल वशिष्ठ गुफा के अतिरिक्त वहीं सन्निकट ही दो और छोटी गुफाएँ थीं। एक तो बिलकुल छोटी थी-केवल एक ही व्यक्ति के रहने लायक थी, बस बैठने और सोने लायक। इसे 'सिंगल सीटेड कहा जाता था। दूसरी इससे कुछ बड़ी थी। उसमें दो व्यक्ति रह सकते थे, इसलिए उसको 'डबल सीटेड' कहा जाता था। पर दूसरी गुफा की भी ऊँचाई कुछ अधिक नहीं थी। मनुष्य केवल बैठ सकता था—खड़ा नहीं हो सकता था। मुझे यह भी

बताया गया कि जो विशेष साधना की इच्छा लेकर वहाँ आता था, उसे स्वामी जी इन छोटी गुफाओं में रखना पसंद करते थे। यह सब जानकर मैंने उत्तर दिया, "डबल सीटेड में ही रख दें तो कृपा हो।" वे हँसते हुए बोले, "क्यों, डर लगता है ?" क्या कहता, चुप रह गया। बात असल में वही थी। सिर नीचा किये चुपचाप बैठा रहा। तब वे फिर से बोले, पर अब उनकी वाणी में गम्भीरता थी, "यदि डर लगता था, तो फिर यहाँ साधना के नाम से क्यों आये ? इससे तो यही अच्छा था कि बँगलों और महलों में रहकर साधना कर लेते। लगता है, यहाँ का परिवेश तुम्हारे अनुकूल न हो सकेगा।" तब मेरे बोल फूटे। याचना के स्वर में मैंने कहा, "महाराज, मुझे कृपा करके अवसर दें। पहाड़ और जंगलों में आने का यह मेरा पहला मौका है। आपकी कृपा से कुछ दिन में मैं अभ्यस्त हो जाऊँगा।"

मुझे डबल-सीटेड गुफा में रहने की अनुमति मिल गयी। यह गुफा नदी के और भी समीप है। फाटक के नाम पर कमजोर लकड़ी के सींकचों से बना दरवाजा है, जो मामूली धक्के से तोड़ा जा सकता है। दूसरी रात मैंने इसी गुफा में बितायी। यह रात तो पहली रात से भी भयानक बीती। ऐसा लगता मानो वन्य पशु अब गुफा के सामने आया, तब आया। इसके बाद की अन्य रात्रियाँ भी मेरे लिए भयपूर्ण रहीं। मेरा भय कम होने के बदले बढ़ता ही जा रहा था। कभी-कभी जंगली जानवर गुफा के सामने तक आ जाते और मेरे हृदय की धड़कन बढ़ जाती। लालटेन

और लाठी तो साथ थीं, पर तो भी रात्रि में भय के मारे मैं बाहर निकलने का साहस नहीं कर पाता था। रात में मुझे उठना न पड़े इसके लिए मैंने एक योजना बना ली। सन्ध्या सात बजे के बाद मैं जल नहीं पीता था।

सात-आठ दिन इसी प्रकार बीते होंगे कि स्वामीजी को मेरे भय के सम्बन्ध में मालूम हो गया। उन्होंने मुझे बुलवाया और व्यवस्थापक को आदेश दिया कि मेरा यत्किंचित् सामान ऊपर रास्ते पर पहुँचा दिया जाय और मुझे ऋषीकेश जाने वाली बस में बिठा दिया जाय। बिना किसी भूमिका के अकस्मात उनका निर्णय सुन मैं विकल हो गया। मैंने करुण स्वर से प्रार्थना की, "स्वामीजी मुझे एक मौका और दे दीजिए।" "बहुत दिया जा चुका," वे कठोर स्वर में बोले "यहाँ आने के पहले ही तुम्हें समझ लेना चाहिए था कि कहाँ जा रहे हो। यहाँ रहने से तुम्हें कोई लाभ न होगा। तुम्हारा समय तो नष्ट होगा ही,तुम दूसरों का समय भी नष्टकरोगे।" स्वामीजी का निश्चित निर्णय देख मैं रो पड़ा। इन कुछ दिनों में मैंने हृदय में जो आशा सँजोली थी, वह अचानक टूटकर बिखर गयी। मेरा नैराश्य रुदन के रूप में प्रकट होने लगा। स्वामीजी झिड़कते हुए बोले,"यह क्या रोना लगाया ? रो-रोकर आध्यात्मिक अनुभूतियाँ नहीं मिला करतीं। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'—बलहीनों के लिए आत्मा सुदूर है। जिनमें पौरुष है,जो प्राणों की बाजी लगाते भी नहीं हिचकते, उन्हीं पर आत्मा की कृपा होती है। आत्मा ऐसे ही पुरुषसिंहों का वरण करती है। 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः, तस्यैष

आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्'। तुम लौट जाओ। यहाँ क्यों अपना जीवन बरबाद करते हो?" मैं रोते-रोते ही उनके चरणों पर गिर पड़ा और याचना के स्वर में बोला, "महा-राज, बस अन्तिम अवसर दे दीजिए। मैं शिकायत की कोई बात अब आने न दूँगा। मुझ पर कृपा कीजिए। केवल एक ही मौका और। बस यही भिक्षा दीजिए।" न जाने मैं अपनी विवशता में और क्या-क्या कहता रहा।

बादल एक बार फिर से छँट गये। स्वामीजी ने मुझे कुछ दिन और रहने की अनुमति दे दी। सन्ध्या समय उन्होंने मुझे बुलवाया। उनके कमरे में और कोई नहीं था। बड़े ही स्नेह पूर्ण शब्दों में उन्होंने मुझसे पूछा, "अच्छा, यह तो बताओ, तुम डरते किस बात से हो?" मैं कोई उत्तर न दे पाया। समझ में ही नहीं आया कि क्या कहूँ। मुझे मौन देखकर वे बोले, "आखिर मरने का ही तो डर है, न और कुछ?" मैंने सोचकर देखा, 'महाराज ठीक ही तो कहते हैं। मैं मरने से ही तो डरता हूँ। कब वन्य पशु आ जाय और मेरा काम तमाम करदे— यही तो डर है।' प्रकट में कहा, "आप ठीक ही कहते हैं, महाराज। मृत्यु का भय ही बाधक बन रहा है।"

"ठीक," स्वामीजी बोले, "अगर मरने का ही डर हो तो तुम ऐसा क्यों नहीं सोचते कि यदि तुम्हारे कपाल में जंगली जानवर के हाथों मरना लिखा हो, तो वे दिन में भी तुम्हें मार सकते हैं। और यदि उनके हाथों मरना न लिखा हो, तो रात में तुम्हारे पास आकर बैठ जायँ

फिर भी तुम्हारा बाल बाँका न होगा। विधि का विधान मेटा नहीं जा सकता। दिन में जंगल की ओर जाते हो। मृत्यु लिखी रहने से दिन ही में बाघ-भालू तुम्हें समाप्त कर सकते हैं—कोई तुम्हें बचा नहीं सकता। और मृत्यु नहीं लिखी हो, तो कोई तुम्हें रात में जंगल के बीच भी नहीं मार सकता। क्यों, क्या कहते हो ?"

साधारण-सी बात थी; तर्क बिलकुल सरल था, उसमें कोई अपूर्वता नहीं थी, पर बात एक ऐसे पुरुष के मुखसे निकली थी, जिसका जीवन ही अनुभूतिमय था। इसलिए वह मेरे भीतर पैठ गयी। सचमुच, कितनी सत्य बात स्वामीजी ने कह दी थी! कितनी सहज! अपने आपसे कहने लगा, "आखिर ऐसी छोटी बात मेरी समझ में क्योंकर न आयी ? सच ही तो है। डरूँ क्यों ? भय का कोई कारण नहीं दिखाई देता। डरने से विधि का लिखा नहीं मिट जाता।" स्वामीजी मेरे अन्तर्द्वन्द्व को भाँपकर बोले, "अब से कुछ दिन इसी तर्क पर ध्यान करो और उसे अपने भीतर भिदा लो। देखोगे, भय नाम की कोई चीज़ न रह जायगी।"

मैंने तदनुसार ही किया। रात्रि में मुझे बाहर जाना पड़े इसके लिए मैं सोते समय काफी मात्रा में जल पी लेता था। अब बलपूर्वक रात्रि में गुफा के बाहर आने लगा। उस मंत्र का जाप तो चला ही था—निर्भीकता के मंत्र का कि विधि में न लिखा हो तो कौन मार सकता है। सात-आठ दिन में ही धीरे-धीरे भय की मात्रा कम होती गयी। एक दिन हम सभी रात्रि में स्वामीजी के पास बैठे थे। वे अपने अनुभव

बता रहे थे। अचानक जंगल को दहला देनेवाला गर्जन सुनायी पड़ा। ऐसा लगा जैसे बाघ मील - आधमील पर होगा। उस समय ६॥ बजे थे। इसके बाद कुछ देर तक स्वामीजी जंगली जानवरों के अपने अनुभव बताते रहे। लगभग सवा दस बजे उन्हें जैसे कुछ स्मरण हो आया। कहने लगे, "अरे, एक जरूरी काम तो मैं भूल ही गया। विद्यालय के प्रधानाध्यापक को एक बड़ी आवश्यक सूचना देनी थी।" फिर मेरी ओर देखकर बोले, "जाओ, तुम्हीं पहुँचा आओ। उत्तर लाने की आवश्यकता नहीं। यदि वे सो गये रहें, तो भी उठाकर दे देना।" मेरे काटो तो खून नहीं ऐसी दशा हो गयी ! यद्यपि निर्भयता का अभ्यास क्रमशः मुझसे सध रहा था, पर अभी आध-पौन घण्टे पूर्व की दहाड़ ने मुझे कम्पित कर दिया था। मुझे ऐसा लगा मानो स्वामी जी मेरी परीक्षा लेने ही मुझे भेज रहे हैं। जो हो, जाना तो था। मैंने सहमे-से उत्तर दिया, "जी, जो आज्ञा।"

"डर तो नहीं लगेगा ?" स्वामीजी ने पूछा।

"जी, यदि लगा भी, तो आपकी कृपा से सब ठीक ही रहेगा।"

"हाँ, ठीक है, हो ही आओ," वे बोले।

स्वामीजी ने कागज पर कुछ लिखकर उसे लिफाफे में भरकर मुझे दिया। मैं लालटेन और लाठी लेकर चल पड़ा। ऊपर कह ही चुका हूँ कि दूरी काफी थी—लगभग छः फर्लाङ्ग। बीहड़ जंगल और अंधेरी रात के कारण मानो एक-एक कदम एक-एक फर्लाङ्ग के समान बोझिल हो रहा था। फिर,

कुछ ही समय पूर्व वह हृदयविदारक गर्जन हुआ था। मेरा क्या हाल था, यह अब लेखनी लिख नहीं पाती। यह तो वही कल्पना कर सकता है, जिस पर ऐसा समय आया हो। हवा में वृक्ष के पत्ते सरसराते और ऐसा लगता कि जानवर यहीं दुबका पड़ा है। जुगनू चमकते तो एक बार डर कौंध जाता कि कहीं वे हिंस्र आँखें तो नहीं हैं! भगवान् के जितने नाम याद थे, सबको एक-एक करके मन-ही-मन दुहरा रहा था।

ले-देकर विद्यालय पहुँचा। प्रधान पाठक सो गये थे। उन्हें जगाया। मुझे इस भयंकर अन्धकार पूर्ण रात्रि में वहाँ देखकर वे भी घबरा गये। कहीं आश्रम में कुछ अनिष्ट तो नहीं हो गया? "आप अकेले, और इस समय यहाँ?" उन्होंने व्यग्रता से पूछा। "हाँ, स्वामीजी की ऐसी ही आज्ञा थी," मैंने उन्हें पत्र देते हुए संक्षिप्त-सा उत्तर दिया।

"पर यह तो सबेरे भी दिया जा सकता था," उन्होंने पत्र पढ़ते हुए कहा, "वैसी कोई इतनी आवश्यक बात तो नहीं दीखती। फिर, कुछ ही देर पहले तो जंगल में आवाज हुई थी। आप लोगों ने नहीं सुनी?"

"सुनी तो थी," मैंने बात समाप्त करते हुए कहा, "और शायद स्वामीजी ने इसीलिए मुझे भेजा है।"

मैं वापस लौट पड़ा। पर अद्भुत बात हुई। ऐसा लगा, मानो भय का आवरण हटता जा रहा है। आप-ही-आप, मालूम नहीं कैसे, भय की भावना ही मेरे मन से दूर होने लगी। आते समय की कँपकपी, चारों ओर भयाकुल होकर

ताकने का भाव—यह सब मानो दूर होता गया और आश्रम के आते तक मानो भय का लेशमात्र भी मन में न रहा। जीवन की यह सबसे प्रथम सिद्धि मुझे मिली। मैं स्वामीजी की कृपा का स्मरण करके गद्गद् हो उठा। दूर से देखा, उनके कमरे में प्रकाश था और बातचीत की आवाज सुनाई पड़ रही थी। मैं ऊबड़-खाबड़ ढाल पर दौड़ पड़ा और गिरते-हाँफते उनके कमरे में पहुँचकर उनके चरणों पर लोट-पोट होने लगा। वे सस्नेह अपना कृपापूर्ण हस्त बड़ी देर तक मेरे सिर पर फेरते रहे। मैं उठा, पर कृतज्ञता-ज्ञापन के लिए शब्द मानो नीरव हो गये थे। आश्रमवासी मेरी यह अवस्था देख कुछ समझ न पा रहे थे। स्वामीजी ने स्मित हास्य से पूछा, "क्यों, ठीक रहा तो ?" मैंने कृतज्ञता के स्वर में उत्तर दिया, "जी, बिलकुल ठीक रहा !"

सब उठे। बाहर आकर आश्रमवासियों ने मुझसे पूछा। मैंने बता दिया। वे भी आश्चर्य चकित हुए। मैं रात में सो न सका—आनन्द इतना उछला पड़ रहा था। मैं सारी रात जंगलों में घूमता रहा। वन के जिस भाग में दिन के समय भी जाने में हिचक होती थी, वहाँ जाकर बड़ी देर तक बैठा रहा, गाता रहा, घूमता रहा। वह रात्रि मेरे लिए वरदान की रात्रि थी, सिद्धि की रात्रि थी, वशिष्ठ गुफा के योगी की वह एक अनुपम देन थी।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर

ईश्वरचन्द्र ने बाल्यकाल बहुत कष्ट में बिताया। किन्तु कष्ट में ही उनकी प्रतिभा निखरी। उन्हें भर-पेट भोजन नहीं मिलता था। अध्ययन में परिश्रम करने तथा पिताजी के लिये रसोई बनाने आदि कार्यों में लगे रहने के कारण उन्हें पर्याप्त निद्रा भी उपलब्ध न होती थी। कभी कभी रात में उन्हें सड़क पर जाकर लैम्प के नीचे खड़े हो अध्ययन करना पड़ता था, क्योंकि तेल के लिये पर्याप्त पैसा वे नहीं जुटा पाते थे। ऐसी परिस्थिति में भी वे अन्य अनाथ बालकों की सहायता अपनी छात्रवृत्ति के द्रव्य से करते थे। आप स्वयं घर की खादी पहनते थे, किन्तु इन गरीब बालकों के लिये अच्छे वस्त्र खरीद देते थे। दूसरों के सम्मुख वे अपने कष्टों को भूल जाते थे। इतना होते हुए भी आप सदा कक्षा में प्रथम आते थे।

नौकरी में भी आप नितांत निर्भय और सत्यवादी रहे। विलायत से जो अंग्रेज सिविलियन आते, उन्हें हिन्दी की परीक्षा देनी होती थी; अयोग्य सिद्ध होने पर उन्हें सीधे घर लौट जाना पड़ता था। इनकी परीक्षा विद्यासागर ही लेते थे। एक बार इनके प्रिंसिपाल मार्शल ने इनसे परीक्षार्थियों पर रिआयत करने के लिए कहा। इन्होंने उत्तर दिया, "मैं अन्याय नहीं कर सकता, चाहे नौकरी छूट जाय।" मार्शल

साहब इनकी न्याय-प्रियता की प्रशंसा करते हुए चुप रह गये।

राह में एक बार एक बालक ने इनसे एक पैसा माँगा। इन्होंने पूछा, "क्या करोगे?"

बालक—"भूखा हूँ, चने लेकर चबाऊँगा?"

विद्या०—"यदि दो पैसे दूँ तो क्या करोगे?"

बालक—"एक पैसे के चने चबाऊँगा। दूसरे की कोई चीज लेकर बेचूँगा या अपनी माँ को दूँगा।"

विद्यासागरने उसे एक रुपया दिया। कई वर्ष पश्चात् एक युवक उन्हें अपनी दूकान में बुलाकर ले गया और दूकान दिखाकर आदर पूर्वक बिठाकर बोला, "महाशय, मैं वही दीन बालक हूँ, जिसकी आपने १) देकर सहायता की थी। आप की ही कृपा से मेरी यह दूकान चल निकली है।"

आप माता-पिता के बड़े भक्त थे। जब आप फोर्ट विलियम कालेज में नौकरी पर थे, तब छोटे भाई के विवाह के अवसर पर घर जाने के लिये इन्हें छुट्टी न मिली। प्रिंसिपल ने कहा, "बहुत सा काम पड़ा है जो आपके बिना नहीं हो सकता।" आपने कहा, "माताजी की आज्ञा है कि मैं तुरंत चला आऊँ। यदि आप अवकाश नहीं दे सकते, तो त्यागपत्र स्वीकार करें।" मातृभक्ति से प्रसन्न हो साहब ने छुट्टी दे दी। फौरन आप एक नौकर ले घर के लिये रवाना हुए। दामोदर नदी में बाढ़ थी। नाव न मिली। आपने नौकर को लौटा दिया और तैर कर नदी को पार कर भयावने बनों में से होते हुए रातको घर पहुँचे। माता के चरणों में

प्रणाम किया। बरात जा चुकी थी। माता निराश हो चुकी थीं किन्तु विद्यासागर को पाकर उनका हृदय गद्गद हो गया।

आप बड़े निर्भीक थे। जब वे हिन्दू कालेज के प्रिंसिपल कार साहब से मिलने गये, तो वे टेबल पर पैर फैलाये कुर्सी पर लेटे ही रहे। विद्यासागर कुछ न बोले। बातचीत कर लौट आये। किन्तु मन में उन्होंने सभ्यता सिखाने का निश्चय कर लिया। शीघ्र ही अवसर भी प्राप्त हो गया। कार साहब को स्वयं किसी कार्यवश विद्यासागर से मिलने आना पड़ा। विद्यासागर ठीक उसी प्रकार पैर टेबल पर चढ़ाकर लेट गये और कार साहब को खड़े-खड़े बातचीत कर लौटना पड़ा। उन्होंने इसकी रिपोर्ट शिक्षा-समिति के सदस्य माट साहब से की। सब बातों की जाँच कर माट साहब ने कार साहब को सलाह दी कि विद्यासागर बड़े न्याय प्रिय, विनम्र और दृढ़ निश्चयी हैं। उन्हें नौकरी की परवाह नहीं है। आप चुपचाप उनसे सुलह करलें। कार साहब को यही करने में भलाई दिखाई पड़ी।

एक बार अफसर से अनबन हो जाने से इन्होंने इस्तीफा दे दिया। बोले, साग बेचूँगा, मोदी की दूकान करूँगा, किन्तु जहाँ इज्जत नहीं, वहाँ नौकरी न करूँगा।" नौकरी छूट जाने पर भी दीन-दुखियों की सहायता में जो खर्च होता था सब बराबर चलता ही रहा।

एक दिन सवेरे एक मेहतर रोता हुआ आ पहुँचा और बोला, "मेरी स्त्री को हैजा हो गया है। आप ही उसे बचा सकते हैं।" सुनते ही आपने नौकर के हाथ दवाओं की पेटी

भेज दी और स्वयं मोटर ले उसके घर पहुँच गये। दिनभर उसकी सेवा और चिकित्सा की तथा शाम को घर आकर स्नान-संध्या-भोजन किया। उनका व्यवहार सब के प्रति समान होता था।

स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह एवं सतीप्रथा के बन्द कराने में आपने बहुत कार्य किया। विधवा विवाह को शास्त्रीय आधार पर सिद्ध करने के लिये आपने एक सप्रमाण उत्तम पुस्तक लिखी। तैयार हो जाने पर उसे अपने पिता जी के पास ले गये और बोले, "मैंने यह पुस्तक शास्त्रों के प्रमाण के साथ विधवा-विवाह के पक्ष में लिखी है। आप इसे सुन लें। जब तक आप सहमत न होंगे, इसे प्रकाशित न करूँगा।" पिता ठाकुरदास बोले, "यदि मैं सहमत न होऊँ तो तुम क्या करोगे?" ईश्वरचन्द्र ने कहा, "तब फिर मैं इसे आपके जीवन काल में प्रकाशित न करूँगा। बाद में परिस्थिति के अनुसार निश्चय करूँगा।" दूसरे दिन समस्त पुस्तक ध्यान से सुन कर पिता ने पूछा, "क्या इन सब लेखों पर तुम्हारा विश्वास है? क्या यह शास्त्रानुकूल है?" ईश्वरचन्द्र बोले, "हाँ मुझे पूर्ण विश्वास है।" तब पिताजी ने स्वीकृति दे दी, "मुझे कोई आपत्ति नहीं है। तुम अपनी इच्छानुसार कार्य करो।" तत्पश्चात् उन्होंने इस विषय में माताजी से भी आज्ञा प्राप्त की। धन्य पितृभक्ति! जिस सुधार के लिये वे अपना जीवन अर्पित करने के लिए तैयार थे, उसके लिये भी माता-पिता की आज्ञा का उल्लंघन करना उन्हें स्वीकार न था।

एक बार आप किसी ग्राम में भाषण देने गये। रात की गाड़ी से वहाँ प्लेट-फार्म पर उतरे। उसी गाड़ी से दूसरे दिन आपका व्याख्यान सुनने के लिए एक नवयुवक भी अंग्रेजी वेशभूषा में उसी स्टेशन पर उतरा। साथ में एक सूटकेस था। कुली-कुली पुकारते हुए उसने इनके सादे वेश को देखकर इन्हें कुली ही मान लिया। सूटकेस लेकर विद्यासागर पैदल उसके स्थान पर पहुँचा आये। दूसरे दिन व्याख्याता महोदय की ओर देखते ही उस युवक का खून सूख गया और उसने दंडवत् प्रणाम कर क्षमा माँगी।

छोटे लाट हालिडे साहब से इनकी घनिष्ठता थी और आप प्रति गुरुवार को उनसे मिलने जाते थे। वहाँ भी आप चादर धोती, चट्टी पहनकर जाते। साहब के कहने से कभी-कभी कोट-पतलून में भी जाते थे, किन्तु एक दिन लौटते समय साहब से बोले, "यह मेरी आपसे अन्तिम भेंट है, अब से मैं न आऊँगा।" तथ्य जानकर साहब हँसकर बोले, "आपको जिस वेश में आराम मिले, उसी में आया कीजिये। आना बन्द न कीजिये।"

आपने सदा सेवा की और मौन एवं विनम्र भाव से। एक बार टहलते समय एक व्यक्ति इन्हें रोता हुआ मिला। पूछने पर ज्ञात हुआ कि उसका घर कर्ज में नीलाम होनेवाला था। आप तुरन्त उसका पता आदि पूछ कर घर लौट आये। घर से रकम ली, कचहरी गये और उस व्यक्ति के नाम से अदालत में २३००) रुपये जमा कर नीलाम बन्द करा दिया। बड़ी देर राह देखकर वह व्यक्ति स्वयं कचहरी पहुँचा, तो

लोगों ने हाल बतलाया। उसे विश्वास न हुआ। बोला, "दुःखी व्यक्ति का परिहास नहीं करना चाहिये।" किन्तु जब उसे सत्यता ज्ञात हुई, तो तुरन्त उसे उस बंगाली बाबू का स्मरण हो आया। उसे उनका नाम-पता तक ज्ञात न था कि जाकर कृतज्ञता प्रकट कर सके। किन्तु उसे संयोगवश मार्ग में उनके दर्शन एक बार हो ही गये। विद्यासागर बोले, "तुम्हारा अनुमान सत्य है, पर इसकी चर्चा किसी से न करना।" वह बोला, "महाराज, आपके सम्मुख भले ही दोषी हो जाऊँ, पर ऐसा मुझसे कैसे होगा ?"

—डा० त्रेतानाथ तिवारी द्वारा संकलित।

तुम देखते हो कि जल का स्वभाव नीचे की ओर बहना है, किन्तु सूर्य की किरणें उसे ऊपर उठा लेती हैं; ठीक उसी प्रकार मन का स्वभाव भी नीचे की ओर—विलास के पदार्थों की ओर जाता है, किन्तु ईश्वर की कृपा मन को उच्च आदर्शों की ओर जाने योग्य बना देता है।

श्री माँ सारदा

मुद्रक—श्री विश्वेश्वर प्रेस, बुलानाला, वाराणसी।